अध्याय – 1
राजनीति विज्ञान का अर्थ, क्षेत्र एवं महत्त्व

अध्याय की रूपरेखा

1.1 मानव एवं समाज : सु–जीवन की खोज

1.2 राजनीति विज्ञान–प्रकृति एवं परिभाषा

1.3 क्षेत्र–राजनीति विज्ञान की विषय–सामग्री

1.4 क्या राजनीति का कोई विज्ञान है?

1.5 राजनीति विज्ञान के अध्ययन के दृष्टिकोण–मानकीय एवं आनुभविक

1.1 मानव एवं समाज : सु–जीवन की खोज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसका अर्थ यह है कि मानव का न रहकर समूहों में रहता है। चाहे ये समूह छोटे हों या बड़े, मनुष्य की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं समूहों द्वारा होती है। यहां तक कि पशु–पक्षी और कीड़े–मकौड़े भी समूह में रहते और कार्य करते हैं। लेकिन अन्य जीवों की तरह मनुष्य अपने शारीरिक जीवन के अस्तित्व से ही संतुष्ट नहीं होता है, अपितु मनुष्य विवेक सम्पन्न है जिससे उसमें चिंतन की क्षमता आती है। वह 'भूत' को स्मरण रखता है और 'भविष्य' के लिए योजनाएं बनाता है। मनुष्य की यह विवेक क्षमता ही उसे 'सु–जीवन' की खोज के योग्य बनाती है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति का सम्पूर्ण ढांचा मनुष्य के द्वारा 'अच्छे जीवन' की खोज का ही परिणाम है। अच्छे जीवन का अर्थ विभिन्न लोगों के लिए भिन्न–भिन्न है, लेकिन इस पर सभी सहमत हैं कि यह 'शारीरिक अस्तित्व' से आगे की वस्तु है। इसमें मानव मस्तिष्क की क्रिया प्रणाली सन्निहित है, साथ ही सन्निहित है हमारे आसपास के वातावरण में सुधार व कला का निर्माण और सौंदर्य की प्रशांसा।

1.2 राजनीति विज्ञान–प्रकृति एवं परिभाषा

राजनीति विज्ञान या राजनीति अध्ययन की वह शाखा है जो समाज में मनुष्य के जीवन के राजनीतिक पहलू से सम्बन्धित है और आर्थिक, सामाजिक, दार्शनिक, नैतिक तथा अन्य पहलुओं से अलग है। ऐरोथी पिकलेस ने राजनीति विज्ञान को बड़े सुन्दर ढंग से परिभाषित किया है। उसके अनुसार राजनीति विज्ञान का जन्म उस समय हुआ जब मनुष्यों ने उन नियमों के विषय में चिंतन प्रारम्भ किया जिनके द्वारा उन पर शासन होना है– जब उन्होंने परस्पर यह पूछना प्रारम्भ कर दिया कि क्या इन नियमों को स्वीकार किया जाना चाहिए? कुछ समाज दूसरे समाज के अलग नियम क्यों अपनाते हैं? क्या किसी विशिष्ट समाज के लिए सर्वोत्तम नियमों का अपनाना सम्भव है जो प्रत्येक समाज पर लागू हो सके, या होने चाहिए। इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए मनुष्य उन उदेश्यों के विषय में मौलिक खोज करने को विवश हुआ जिनके कारण मानव समाज अस्तित्व में है और मानव जीवन से उसका क्या सम्बन्ध है?

प्लेटो और अरस्तू से प्रारम्भ हुए इस एक प्राचीनतम विज्ञान के क्षेत्र या विस्तार का सीमांकन कुछ कठिन कार्य है। अरस्तु ने विशेष रूप से इस सन्दर्भ में एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया। उसने राजनीति शास्त्र को 'मूल विज्ञान' की संज्ञा दी और उसमें न केवल राजनीतिक संस्था राज्य या नगर को शामिल किया वरन् उसमें परिवार, समाज एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं को जो समाजशास्त्र, नीति शास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत आती हों, को भी शामिल किया। अरस्तु द्वारा ऐसा लिखना स्वाभाविक था क्योंकि उसके समय में यूनानी नगर–राज्य व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्ध रखते थे और उस समय राज्य और समाज में कोई विभाजन रेखा न थी।

वर्तमान समय में राज्य के आकार में वृद्धि एवं औद्योगिक क्रांति के पश्चात् नवीन आर्थिक व्यवस्था के उदय के साथ, उसकी भूमिका में ह्रास हुआ और एक समय तो राज्य का कार्य मात्र आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखने एवं बाह्य आक्रमण

से सुरक्षा प्रदान करने तक ही सीमित रह गया। यह बहुत संकीर्ण दृष्टिकोण था और यह उस राजनीति विज्ञान की प्रकृति एवं क्षेत्र में प्रतिबिम्बित होता है जो अपने को वैधानिक संस्थागत अभिगम तक सीमित रखता है। जब विशेष सामाजिक विज्ञानक– जैसे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र ने अपनी पृथक विशिष्टता का विकास प्रारम्भ किया तब राजनीति विज्ञान भी राज्य के विशेष विज्ञान या राज्य की सरकार के विज्ञान के रूप में विकसित होता गया।

राजनीति विज्ञान के विषय में यह दृष्टिकोण एक लम्बे समय तक मान्य रहा और इस काल में राजनीति विज्ञान की परिभाषाओं में इस दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। ''राजनीति विज्ञान का आदि और अन्त राज्य है।'' (गार्नर) ''राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान की वह शाखा है जो राज्य के आधार और सरकार के सिद्धान्तों का विवेचन करती है।'' (जैनेट) हेराल्ड लास्की ने इस दृष्टिकोण को एक नई दिशा दी और कहा, ''राजनीति का अध्ययन मानव जीवन और संगठित राज्य के परस्पर सम्बन्धों तक सम्बन्ध रखता है। बीसवीं शताब्दी में या विशेष रूप से द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् तथाकथित 'व्यवहारवाद' की क्रांति ने राजनीति विज्ञान का एक नया दृष्टिकोण प्रतिपादित किया। लेकिन यह पूर्णतः नवीन दृष्टिकोण नहीं है क्योंकि इसने अरस्तू के व्यापक परिप्रेक्ष्य को भी ग्रहण किया है और साथ ही यह संकीर्ण दृष्टिकोण का भी प्रतीक है– क्योंकि विश्लेषण के उद्देश्य से यह मानव व्यवहार के राजनीतिक एवं अराजनीतिक पहलुओं का पृथक समझता है। व्यवहारवाद की महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली विशेषता यह है कि इसमें बल संस्था या ढांचे पर न देकर कार्यों और प्रतिक्रियाओं पर देते हैं। राजनीति को क्रियाकलाप तथा संस्थाओं को ढांचा माना जाता है।

व्यवहारवाद का मुख्य उद्देश्य राजनीति को क्रियाशीलता एवं प्रक्रिया मानने पर है। राजनीतिक क्रियाशीलता में एक व्यक्ति के चुनाव लड़ने पर समूह द्वारा किसी नीति को सरकार से मनवाने अथवा पारस्परिक मतभेद, प्रतियोगिता एवं संघर्ष सम्मिलित है। राजनीति का एक पृथक गुण यह भी है कि इसमें शारीरिक बल प्रयोग सहित शक्ति का वास्तविक तथा संभावित प्रयोग विभिन्न रूपों में निहित है। इसके अतिरिक्त राजनीति को उस प्रक्रिया का प्रतीक भी माना जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह एवं समाज किसी विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार राजनीति एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानवीय, भौतिक एवं अध्यात्मिक दुर्लभ साधनों को एक सामाजिक सीमा में मानवीय आवश्यकताओं और इच्छाओं को पूरा करने के लिए निर्धारित किया जाता है। यह सामाजिक सीमा एक नगर हो सकती है एक राज्य हो सकती है या एक संगठन हो सकता है। (इस्टन)

राजनीति चाहे गतिविधि हो या प्रक्रिया उसमें शक्ति के प्रयोग की सम्भावना तो निहित ही रहती है। मार्क्सवादी राजनीति के इस दृष्टिकोण को संघर्ष की संज्ञा देते हैं। लेकिन इन दोनों में एक अन्तर है। मार्क्सवादी इस संघर्ष को सम्पत्तिवान–भूमि, कारखान, पूंजी आदि रखने वाले और न रखने वाले लोगों के बीच हितों का संघर्ष और प्रतियोगिता मानते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि इन हितों के बीच कभी मेलमिलाप सम्भव नहीं है। लेकिन राजनीति को सदैव सत्ताप्राप्ति का संघर्ष एवं लड़ाई ही नहीं मानना चाहिए क्योंकि राजनीति के एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार, ''राजनीति व्यवस्था और न्याय का शासन लाने का एक साधन है। इस शास में सत्ता व्यक्तिगत हितों के दबाव के विरूद्ध सार्वजनिक हित और सामूहिक बहुमत के विरूद्ध अल्पमत के विशेषधिकारों को मान्यता देती है। लेकिन दूसरे मामले में राजनीति सभी नागरिकों का भावनात्मक रूप से एक समुदाय में मिलाने और एक प्रकार के राज्य निर्माण का एक साधन है, जिसकी कल्पना अरस्तु ने बहुत पहले की थी।'' (दुवेजर)

इस प्रकार अब हम राजनीति विज्ञान की एक व्यापक परिभाषा कर सकते हैं। यह एक सामाजिक विज्ञान है जिसका लक्ष्य राजनीतिक गतिविधियों, प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं के अध्ययन और विकास से है। इन गतिविधियों, प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं को राजनीतिक प्रकृति का होने के कारण इनके सामाजिक एवं पारस्परिक सम्बन्धों में दबाव की शक्ति का वास्तविक एवं मात्रिक प्रयोग निहित है।

1.3 क्षेत्र–राजनीति विज्ञान की विषय–सामग्री

किसी भी विषय के शैक्षिक पाठ्यक्रम के क्षेत्र से हमारा तात्पर्य उस विषय–सामग्री से है जो उसके अध्ययन के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है और इस अर्थ में प्रत्येक विषय का अध्ययन क्षेत्र सम्बन्धित विषय के अध्ययन क्षेत्र से भी भिन्न होगा। राजनीति विज्ञान मौलिक रूप से समाज में मानवीय गतिविधियों या मानव का अध्ययन है। इस अध्ययन में उन सभी

सम्बन्धों का विश्लेषण भी शामिल हो सकता है जिन्हें मनुष्य अपनी वैयक्ति आवश्यताओं और सामुदायिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाता है। विशेष रूप से राजनीति विज्ञान उन सम्बन्धों में दिलचस्पी रखता है जिनकी प्रकृति राजनीतिक होती है। इस श्रेणी में वे सम्बन्ध आते हैं जिनमें शक्ति का प्रयोग, कानून और सत्ता सम्मिलित हों और इस अर्थ में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत सभी प्रकार के समूह एवं संस्थाएं आ जाती हैं।

लेकिन राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से भी है जैसे कि राज्य और राज्य के कार्य करने का माध्यम सरकार। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का विस्तार औपचारिक संगठनों के अध्ययन एवं औपचारिक संस्थाओं–विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की औपचारिक कार्य–प्रणाली के अध्ययन से है और आजकल तो इस क्षेत्र में मतदाता एवं प्रशासन का अध्ययन भी शामिल है।

परम्परागत रूप से राजनीति विज्ञान कुछ मूलभूत प्रश्नों से भी सम्बन्धित रहा है। जैसे राज्य क्यों और कैसे अस्तित्व में आया? आदर्श राज्य क्या है? वैधानिक सत्ता क्या है और इसकी आज्ञा का क्यों पालन किया जाना चाहिए? कभी–कभी मनुष्य संस्थापित सत्ता की आज्ञा का उल्लंघन क्यों करते हैं और क्रांतियां क्यों होती हैं? स्वतंत्रता क्या है और इसकी सीमाओं को किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है? यह वे प्रश्न हैं जिनका अभी तक अन्तिम उत्तर नहीं दिया जा सका है और शायद दिया भी नहीं जा सकता है क्योंकि यह प्रश्न राजनीति विज्ञान की अपेक्षा राजनीतिक दर्शन से अधिक सम्बन्धित है। लेकिन अगर इन प्रश्नों को – राजनीति विज्ञान के अध्ययन से अलग कर दिया जाए तो इससे प्लेटो, अरस्तू रूसो, मार्क्स और गांधी जैसे विचारकों पर इस विषय का दावा नहीं रह जाएगा। इसका कोई कारण नहीं दिखाई देता कि राजनीति विज्ञान को इतना अधिक नुकसान उठाना पड़े।

निकट वर्तमान में राजनीति विज्ञान में एक प्रवृत्ति यह है कि इसके क्षेत्र का विस्तार राजनीतिक व्यवहार के आनुभाविक खोज के नव क्षेत्र तक किया जाए। दूसरे सामाजिक विज्ञानों के चित्रण साधन के समान राजनीति विज्ञान ने न केवल विश्लेषण की नई तकनीक का विकास किया है बल्कि राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक समाजीकरण एवं राजनीतिक सम्प्रेषण जैसी नई अभिधारणाओं को भी विकसित किया है जिससे राजनीतिक ढांचे और प्रणाली की प्रकृति, कार्य–प्रणाली, विकास और पतन की व्याख्या की जा सके और उसका मूल्यांकन किया जा सके।

1.4 क्या राजनीति का कोई विज्ञान है?

इस प्रश्न के कई व्यापक उत्तर दिए जा सकते हैं परन्तु इस प्रश्न के 'हां' या 'ना' के उत्तर में विवाद करने से अच्छा यह होगा कि हम यह देखें कि राजनीति विज्ञान किस अर्थ में और किस सीमा तक विज्ञान होने का दावा करता है। यहां इस बात का स्मरण लाभदायक होगा कि कोई भी विज्ञान–चाहे वह 'प्राकृतिक' हो या सामाजिक, सदैव ही, प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति में एवं अपने अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली प्रत्येक वस्तु में पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं होता है और न ही हो सकता है। जहां तक राजनीति विज्ञान का प्रश्न है, दो बातें बड़ी आसानी से कही जा सकती हैं। प्रथम यह आशा करना कि राजनीति विज्ञान सम्यक रूप से वैज्ञानिक हो जाएगा, व्यर्थ है। दूसरे यह विषय भूत काल की तुलना में आज अधिक वैज्ञानिक है। आइए देखें ऐसा क्यों है?

प्रत्येक विज्ञान और अन्वेषण के विषय तथ्य एवं सामग्री के सम्बन्ध में दो चीजें करने का प्रयास करता है। एक में कारण और दूसरे में प्रभावों का वर्णन किया जाता है। और निष्कर्ष निकाला जाता है। राजनीति विज्ञान भी राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में इन्हीं दो बातों को करने का प्रयासकरता है। यह कहा जाता है कि प्रजातांत्रिक प्रणाली में शक्ति आम जनता में बिखरी हुई होती है। यह विवरण का विषय है। लेकिन जब राजनीति शास्त्री यह कहता है कि राजनीतिक प्रक्रिया में आम जनता की बढ़ती हुई सहभागिता से अस्थायित्व पनप सकता है तो वह या तो घटनाओं का सामान्यीकरण कर रहा है या बहुत दूर की कल्पना। प्राकृतिक विज्ञान और राजनीति विज्ञान में अन्तर मात्रा का है किस्म का नहीं। विज्ञान के विश्लेषण सामाजिक विज्ञानों की तुलना में अधिक सुनिश्चित और यथार्थ होते हैं। इसमें आज कोई विवाद नहीं है कि चन्द्रमा अपनी चमक सूर्य से लेता है लेकिन दो राजनीति शास्त्री एक ही राजनीतिक घटना को सुनिश्चित रूप से एक ही प्रकार वर्णित न करेंगे। इसी प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों में जो सामान्यीकरण प्रस्थापित किया जाता है वह निश्चित ही सर्वव्यापक रूप से वैध होता है। यद्यपि विज्ञान भविष्यवाणी भी करता है परन्तु विज्ञान के साधारणीकरण को 'कानून' या

सिद्धांत की संज्ञा दी जाती है। इसीलिए हम गुरूत्वाकर्षण के सिद्धांत या गति का सिद्धांत या गणित के सूत्रों को बगैर किसी शंका के स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन समाज शास्त्रियों के प्रतिपादित सामान्यीकरण को उसी रूप में स्वीकार करने पर निरन्तर विवाद खड़ा हो जाता है क्योंकि ऐसे सामान्यीकरण उतने सुनिश्चित एवं सर्वव्यापक नहीं होते हैं। उन्हें सिद्धांत नहीं अधिक से अधिक प्रवृत्तियां कहा जाता है। कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के कुछ सिद्धांतों के अन्वेषण का दावा करता है और यह सिद्धांत आज भी विवादास्पद है और इनके प्रतिपादन के समय से कुछ घटना क्रम इस प्रकार विकसित हुआ है कि इनमें से कुछ की तो वैधता पर भी संदेह किया जा सकता है। दीर्घकाल से यह स्वयं सिद्ध माना जाता था कि शिक्षा के प्रसार से प्रजातांत्रक सरकार की सफलता सुनिश्चित होती है। लेकिन आज हम प्रजातंत्र और शिक्षा के कारण और प्रभाव के सम्बन्धों के विषय में उतनी निश्चितता से नहीं कह सकते हैं।

सामाजिक विज्ञान में साधारणीकरण भविष्यवाणी की विशेषता से रहित है जो कि प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धांतों की मुख्य विशेषता है। अपवर्ती भविष्य के सम्भावित विकास पर अग्रिम घोषणाएं करता है। अगर एक खास मात्रा में संखिया चुहिया के शरीर में प्रवेश करा दिया जाए, तो क्या घटित होगा, इसकी पूर्व घोषणा करना सम्भव है। लेकिन क्या हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि असीम दारिद्रय एवं आर्थिक असमानता की परिणित क्रांति में ही होगी? क्या हम निश्चय पूर्वक इस बात की गणना कर सकते हैं कि मजदूरी और मूल्यों के किस स्तर पर श्रमिक मजदूर हड़ताल कर देगा? ठीक इसी प्रकार एक राजनीति शास्त्री को समस्त सुचनाएं एवं विचार एवं विश्लेषण की नवीनतम तकनीक भी सुलभ करा दीजिए तो भी क्या वह किसी राजनीतिक पद के निमित्त होने वाले निर्वाचन के परिणाम की सुनिश्चित पूर्व घोषणा कर सकता है?

अतः हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की भांति वैज्ञानिक प्रणाली अपनाने के कारण ही विज्ञान होने का दावा कर सकता है। इस वैज्ञानिक प्रणाली की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(अ) यह किसी भी वस्तु को स्वीकृम रूप में ग्रहण नहीं करता।

(ब) अगर किन्हीं घटनाओं के सम्बन्ध में यदि कोई सामन्यीकरण प्रतिपादित किया जाता है कि तो उसे अवलोकित तथ्यों पर आधारित होना चाहिए न कि अनुश्रुति पर या किसी ऐसे अधिकार के साथ जिसकी पुनःसत्यापन की आवश्यकता न पडे।

(स) यह प्रणाली किसी भी प्रतिपादित सामान्यीकरण की अन्तिम नहीं मानती है। क्योंकि भविष्य के अवलोकन एवं अनुभवों के आधार पर ऐसे सामान्यीकरण में संशोधन या उसका निरस्त्रीकरण सम्भव है। तथ्यों के अवलोकन एवं परिकल्पना के निर्माण के कार्यरत वैज्ञानिक इस बात का ध्यान रखता है कि जहां तक मानवीय स्तर पर सम्भव हो, तथ्यों के संग्रह और निष्कर्षों के निकालने में व्यक्तिगत मान्यताओं और अभिरूचियों से अनुशासित न हो।

साथ ही इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दूसरे सामाजिक विज्ञानों की भांति राजनीति विज्ञान भी प्राकृतिक विज्ञान की तुलना में कम यथातथ्य है। ऐसा क्यों है? इसके कई कारण भी हैं। राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग बहुत से तथ्यों से प्रभावित होता है। सबसे पहले विषय वस्तु जिससे राजनीति विज्ञान का वास्ता पड़ता है– मनुष्य है न कि जड़ पदार्थ। मनुष्य कोई धातु का टुकड़ा या अणु नहीं है जो वैज्ञानिक अवलोकन में तुलनात्मक दृष्टि से अप्रभावित रहे। इसके विरूद्ध ''मनुष्य में प्रतिक्रिया होती है वह प्रति उत्तर देने को तत्पर रहता है।'' हम मिश्रित सामाजिक सन्दर्भों से राजनीतिक दृश्यों को पृथक नहीं कर सकते हैं और न ही उन्हें प्रयोगशाला में अवलौकित या प्रयोग कर सकते हैं। जिस प्रकार के परिनिरीक्षण एवं प्रयोग वैज्ञानिक प्रयोगशाला में करता है, राजनीति विज्ञान में सम्भव नहीं है। कभी–कभी यह कहा जाता है कि इतिहास एक वृहत प्रयोगशाला है जिसमें विभिनन प्रकार के प्रयोग किए जा चुके होते हैं और एक राजनीति शास्त्री अपने सामान्यीकरण के प्रतिपादन में इतिहास में उपलब्ध आंकड़ों का प्रयोग कर सकता है। लेकिन इतिहास की कभी पुनर्रावृत्ति नहीं होती है। मानवीय अनुभवों में बहुत से तथ्यों का योगदान रहता है। अगर सामाजिक तथ्यों की मिश्रता के बावजूद भी अगर राजनीति शास्त्री कोई परिकल्पना करने में सफल हो जाता है तो भी इस परिकल्पना के परीक्षण करने का कोई रास्ता नहीं है क्योंकि जिन स्थितियों में वह परिकल्पना की गई थी उनकी पुनर्रावृत्ति होने की कोई गारंटी नहीं होती।

राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने में दूसरी कठिनाई वस्तु स्थिति की समस्या के कारण आती है। एक रसायन शास्त्री अपनी प्रयोगशाला में रसायनों के सम्बन्ध में पूर्णतः वस्तुनिष्ठ एवं अवैयक्तिक रह सकता है। लेकिन एक राजनीति शास्त्री उन तथ्यों से अपने को पूर्णतः पृथक नहीं रख सकता जिनका वह अध्ययन करता है। उसके विचार, मान्यताएं एवं निर्णय तथ्यों के चुनाव और उनकी व्याख्या को प्रभावित करते हैं। उसके विचार मान्यताएं एवं निर्णय उसकी जन्म की परिस्थितियों, शिक्षा एवं सामाजिक वर्ग के अनुसार बनते है जिससे वह सम्बन्धित है। लास्की ने ठीक ही कहा है भिन्न–भिन्न तरीके से रहने वाले मनुष्य भिन्न–भिन्न तरीके से सोचते हैं। ''इस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान की तुलना में राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक के व्यक्तिगत पूर्वाग्रह अधिक भूमिका निभाते हैं। यहां दुवेजर को उद्धृत करना समीचीन होगा'', हम राजनीति के मार्क्सवादी, उदारवादी, रूढ़िवादी एवं फासिज्मवादी दृष्टिकोणों की विवेचना कर सकते हैं लेकिन राजनीति का पूर्णतः वस्तुनिष्ठा दृष्टिकोण नहीं है।

विषय सामग्री की प्रकृति, जिससे राजनीति शास्त्री संलग्न है, सामग्री से उसके सम्बन्ध, उसके वस्तुनिष्ठा होने से कठिनाई, राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने की सीमाएं हैं। इनमें से बहुत सी समस्याएं निकट वर्तमान में सामाजिक विज्ञानों द्वारा विकसित शीघ्र प्रणालियों, विश्लेषण के यंत्रों द्वारा आंशिक रूप से हल की जा चुकी हैं। लेकिन फिर भी बहुत बड़ा अन्तराल है जिसको नहीं भरा जा सकता। राजनीति विज्ञान का विज्ञान होने का दावा तो स्वीकार किया जाना चाहिए लेकिन कुछ प्रतिबन्धों के साथ और वह प्रतिबन्ध यह है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों की भांति राजनीति विज्ञान भी अनिश्चित विज्ञान है।

1.5 राजनीति विज्ञान के अध्ययन के दृष्टिकोण–मानकीय एवं आनुभविक

राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिक होने के दावों से यह स्पष्ट हो गया कि प्रणालियों के आधार पर प्राकृतिक विज्ञान और समाज विज्ञान में कोई स्पष्ट भेद करना कठिन है। वास्तव में प्राकृतिक विज्ञान की तकनीक को सामाजिक विज्ञान के प्रणाली विज्ञान में आत्मगत करने की प्रवृत्ति में अधिक विकास हुआ है। राजनीति विज्ञान भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है लेकिन इन तकनीकों को अपनाने में अन्य सामाजिक विज्ञानों, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र की तुलना में इसकी गति मंद रही है। फिर भी समाजविज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान में भेद करना सम्भव होगा यदि प्रणाली के स्थान पर अभिगम पर जोर दिया जाए। प्राकृतिक विज्ञान पूर्णतः आनुभविक दृष्टिकोण पर आश्रित है जबकि राजनीति विज्ञान सहित सभी सामाजिक विज्ञानों ने पृथकतः या मिश्रित रूप से मानकीय एवं आनुभविक प्रयोगाश्रित दोनों दृष्टिकोणों का प्रयोग किया है।

दोनों ही दृष्टिकोण परस्पर अनन्य नहीं वरन् भिन्न है। सामान्यतः इनका अस्तित्व साथ ही साथ है। कभी–कभी वे एक ही पानी में संलीन हो गए से लगते हैं। शब्द मानकीय में मूल्य एवं वरीयता सन्निहित है जबकि आनुभविक तथ्य और अनुभवों से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए यह कहना कि पाश्चात्य प्रजातन्त्र सोवियत प्रजातंत्र से अच्छा है या भारत को अध्याक्षात्मक सरकार को नहीं अपनाना चाहिए–मानकीय वक्तत्य। इसके विरूद्ध यह कहना कि भारतीय जनता पार्टी को ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी इलाके में मतदाताओं का अधिक सहयोग मिलता है–एक प्रकार का आनुभविक वक्तव्य कहा जाएगा। यह अपने को तथ्यों पर आधारित होने का दावा करता है और तथ्यों का सत्यापन किया जा सकता है। एक आनुभविक वक्तव्य का परीक्षण किया जा सकता है एवं उसे सही या गलत दिखाया जा सकता है। (एक मानकीय मूल्यांकन को स्वीकृत या अस्वीकृत किया जा सकता है लेकिन इसको प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता है। आनुभविक अभिगम मूलतः 'क्या है' से सम्बन्धित है लेकिन मानकीय दृष्टिकोण जहां क्या है' को अलग नहीं करता वही 'क्या होना चाहिए' से भी सम्बन्धित है।)

राजनीति के प्ररम्भिक लेखन में मानकीय अभिगम का प्रयोग किया गया और प्लेटो के लेखन में भली प्रकार उदाहरण सहित मिलता है। अरस्तू में हम आनुभविक एवं मानकीय दृष्टिकोण तथा अभिगमों का मिला–जुला रूप पाते हैं। वे राजनीतिक चिंतक जो मानकीय दृष्टिकोण को अपनाते हैं, कुछ मौलिक मूल्यों, आदर्शों एवं लक्ष्यों को स्व–प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं और इनके प्रकाश में राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक व्यवहार का विश्लेषण करते हैं। प्लेटो का 'गणतंत्र' एक आदर्श राज्य पर शोध–प्रबन्ध है। यह राजनीति विज्ञान के परम्परागत अभिगम का नमूना है परन्तु अब यह प्रयोग में नहीं है, ऐसा कहना भी गलत होगा। सामाजिक घटनाओं एवं दृश्यों का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण मानकीय

एवं आनुभविक प्रणालियों का न केवल मिला–जुला रूप है वरन् दोनों संश्लेषण एवं समाकलन भी है। इस प्रकार मानकीय दृष्टिकोण प्रयोग से बाहर नहीं चला गया है। वास्तव में हुआ यह है कि आनुभविक दृष्टिकोण ने हमारे समय में मंच के मध्य भाग पर अधिकार कर लिया है। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं कि वर्तमान शताब्दी में यह एकाएक अस्तित्व में आया और इसका प्रसार हुआ। वास्तव में यह उतना ही पुराना है जितना कि अरस्तू स्वयं। लेकिन आधुनिक राजनीति शास्त्री राजनीति विज्ञान को मूल्यों, या सही और गलत के प्रश्न से मुक्त करना चाहते हैं। तथ्यों और आंकड़ों पर आधारित शोध एवं विश्लेषण प्रशंसनीय है। आंकड़ों के संग्रह एवं व्याख्या करने की बहुत सी तकनीकों एवं साधनों से राजनीतिक तथ्यों को समझने की हमारी क्षमता में वृद्धि हुई है लेकिन मूल्यों रहित राजनीति का विज्ञान जोकि इनका मुख्या लक्ष्य है, अप्राप्य है और वास्तव में अवाछित भी।

*****

अध्याय – 2
राजनीतिक सिद्धान्त क्या है; इसका अध्ययन क्यों करें?

अध्याय की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 राजनीति–सिद्धांत क्या है?

2.2.1 सिद्धांत क्या है?

2.2.2 राजनीति–सिद्धांत : निहितार्थ

2.2.3 राजनीति–सिद्धांत : अन्तर्वस्तु

2.3 राजनीति–सिद्धांत की प्रकृति

2.3.1 राजनीति–सिद्धांत इतिहास के रूप में

2.3.2 राजनीति–सिद्धांत दर्शन के रूप में

2.3.3 राजनीति–सिद्धांत विज्ञान के रूप में

2.4 राजनीति–सिद्धांत : विकास व उत्पत्ति

2.4.1 व्यापक राजनीति–सिद्धांत

2.4.2 आधुनिक राजनीति–सिद्धांत

2.5 राजनीति–सिद्धांत का अध्ययन क्यों करे?

2.5.1 राजनीति–सिद्धांत के समक्ष कार्य

2.5.2 राजनीति–सिद्धांत का महत्त्व

2.6 सारांश

2.7 अभ्यास

2.1 प्रस्तावना

राजनीति–सिद्धांत राजनीति–सम्बन्धी / राजनीति–विषयक कोई परिकल्पना मात्र नहीं है, यह राजनीति का विज्ञान और राजनीति का तत्त्वज्ञान दोनों भी है। एक परिकल्पना के रूप में, ब्लूहैन स्पष्ट करते हैं, राजनीति–सिद्धांत ''राजनीतिक व्यवस्था का एक अमूर्त आदर्श... राजनीति आंकड़ों के एक क्रमबद्ध संग्रह एवं विश्लेषण हेतु एक परिदर्शक का प्रतीक है'' (थिअरीज ऑफ पॉलिटिकल सिस्टम, 1981)। एण्ड्रयू हैकर, इस दृष्टिकोण को विस्तार देते हुए कहते हैं कि राजनीति–सिद्धांत ''एक परिकल्पना के रूप में, अभीष्ट शब्दों में, अनासक्त और निष्पक्ष है। विज्ञान के रूप में, यह अव्यक्त अथवा सुस्पष्ट रूप से, उस बात पर निर्णय देने का प्रयास किए बगैर राजनीतिक सत्यता को अंकित करेगा जिसका वर्णन किया जा रहा है। तत्त्वज्ञान रूप में यह आचरण के उन नियमों का वर्णन करेगा जो समाज में सभी के लिए उत्तम जीवन सुनिश्चित करेंगे. ..'' (पॉलिटिकल थिअरी : फिलॉसफी, आइडिऑलजि, सांइस, 1961)।

राजनीति–सिद्धांत अतिकल्पना नहीं है यद्यपि इसमें राजनीतिक अभिदृष्टि का कोई तत्त्व हो सकता है। यह राजनीतिक क्रियाकलाप नहीं है, तो भी इसके अध्ययन व विश्लेषण हेतु वह राजनीतिक यथार्थताओं का ध्यान अवश्य रखता है। यह पूर्णरूपेण विज्ञानवाद नहीं है, हालांकि यह विश्लेषणात्मक एवं क्रमबद्ध रूप से सभी राजनीतिक गतिविधियों की जड़ तक पहुंचने के प्रयास में रहता है। यह विचारधारा नहीं है, फिर भी यह एक राजनीतिक व्यवस्था को सही ठहराने का प्रयास करता है और दूसरे की निन्दा करता है। एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था लाने के एक स्पष्ट उद्देश्य के लिए यह परिकल्पनात्मक, वैज्ञानिक, तात्त्विक तथा एक ही समय में परिवर्तनशील है। इस प्रकार इसमें परिवर्ती सोपानों में 'परिकल्पना', 'विज्ञान', 'तत्त्वज्ञान', तथा 'विचारधारा' के मूल सिद्धांत पाए जाते हैं।

2.2 राजनीति–सिद्धांत क्या है?

राजनीति–सिद्धांत 'राजनीतिक' क्या है विषयक एक परिकल्पना, राजनीतिक क्या है का विज्ञान और तत्त्वज्ञान है। जौर्ज सैबीन कहते हैं, ''यह राजनीति–विज्ञान विषय अथवा राजनीति–विज्ञान संगत कुछ भी चीज है।'' यह चूंकि विस्तृत अर्थ है, वह इसका परिमित अर्थ भी देते हैं, यह कहते हुए कि यह ''राजनीतिक समस्याओं का अनुशासित अन्वेषण'' है (ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थिअरी, 1973)। डैविड हैल्ड राजनीति–सिद्धांत को इस रूप में परिभाषित करते हैं, ''राजनीतिक जीवन विषयक संकल्पनाओं व सामान्यीकरणों का एक तंत्र जिसमें सरकार, राज्य व समाज की प्रकृति, उद्देश्य व मुख्य अभिलक्षण विषयक तथा मनुष्यों की राजनीतिक क्षमताएं विषयक विचार, कल्पनाएं एवं उक्तियां होती हैं'' (पॉलिटिकल थिअरी टुडे, 1991)। राजनीति–सिद्धांत की एक बड़ी ही विषद परिभाषा पॉलिटिकल साइन्स डिक्शनरी में दी गई है जिसका वर्णन इस रूप में हैः ''वह विचार–संकलन जो राजनीतिक दृश्यघटना का मूल्यांकन करने, उसको स्पष्ट करने व उसका पूर्वानुमान करने का प्रयास करता है। राजनीति–विज्ञान के एक उपक्षेत्र के रूप में, यह राजनीतिक विचारों, मूल्यों व संकल्पनाओं तथा राजनीतिक व्यवहार के पूर्वानुमान–सम्बन्धी स्पष्टीकरण से सम्बन्ध रखता है। इसके विस्तृत अर्थ में इसकी दो मुख्य शाखाएं हैंः एक है अपने मूल्य, विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक व काल्पनिक महत्त्वों के साथ, राजनीतिक तत्त्वज्ञान अथवा प्रसामिक सिद्धांत। दूसरी शाखा है दुर्बोध प्रतिरूपों, व वैज्ञानिक रूप से परीक्षणीय प्रस्थापनाओं के निरूपण के माध्यम से ज्ञान को स्पष्ट करने, पूर्वानुमान करने, मार्गदर्शन करने, अन्वेषण करने व सुव्यवस्थित करने के अपने प्रयासों के साथ अनुभाविक सिद्धांत।''

सम्पूर्ण राजनीति–सिद्धांत राजनीति विषयक है। यह इस बात का एक पर्यवलोकन है कि राजनीतिक व्यवस्था किस विषय में है। यह 'राजनीतिक' क्या है का एक प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण है। अपनी प्रकृति में यह राजनीतिक क्रियाकलापों के प्रक्रमों व परिणामों का एक औपचारिक तार्किक व क्रमबद्ध विश्लेषण है। अपनी प्रणाली में यह विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक तथा विवरणात्मक है। अपने अभिप्राय में यह उसे व्यवस्था, सम्बद्धता तथा अर्थ प्रदान करने का कार्य है जिसका संदर्भ 'राजनीतिक' के रूप में लिया जा सकता है।

2.2.1 सिद्धांत क्या है?

राजनीति–सिद्धांत का अर्थ सिद्धांत का यह अर्थ आवश्यक बनाता है : यह जानने के लिए कि राजनीति–सिद्धांत वस्तुतः क्या है, पहले यह जानना चाहिए कि सिद्धांत क्या होता है? ग्रीक शब्द 'थिअरिया' से जन्में थिअरी (सिद्धांत) का अर्थ है, अथवा कम से कम, अर्थ हो सकता है किसी बात पर शान्त एवं गंभीर चिन्तन अवस्था में उसे ग्रहण करने अथवा समझने के अभिप्राय से डाली गई एक पूर्ण–संकेन्द्रित मानसिक दृष्टि। ऑर्नोल्ड ब्रैक्ट (वॉट इज थिअरी?) शब्द 'थिअरी' (सिद्धांत) के विस्तृत व परिमित दोनों अर्थों का जिक्र करते हैं। विस्तृत भाव में वह कहते हैं सिद्धांत का अर्थ है 'किसी विषय पर एक चिंतक की सम्पूर्ण शिक्षा', जिसमें तथ्यों, उसके स्पष्टीकरण, इतिहास की उसकी अवधारणा, उसके मूल्य–निर्णयों तथा लक्ष्यों, नीतियों व आधारभूत कारणों का वर्णन होता है।

परिमित भाव में वह कहते हैं ''सिद्धांत का अर्थ है केवल अथवा कम से कम मुख्यतः 'व्याख्यात्मक' विचार। अपनी पुस्तक, पॉलिटिकल थिअरी में ब्रैक्ट... व्याख्या करना ही सिद्धांत का प्रकार्य है'' कहते हुए सिद्धांत का प्रयोग परिमित भाव में करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार सिद्धांत का अर्थ है किसी बात को प्रत्यक्षतः अप्रेक्षित अथवा अन्यथा अनाभिव्यक्त आंकड़ों अथवा अन्तर्सम्बन्धों के प्रसंग में स्पष्ट करने हेतु अभिकल्पित प्रस्थापना अथवा प्रस्थापनाओं का एक सेट। सिद्धांत को विज्ञान की प्रमात्रा के बिना वैज्ञानिक होना पड़ता है यह बात अकल्पनीय है। परन्तु सिद्धांत परिकल्पना या कहिए तत्त्वज्ञान, के बगैर उतना ही निरर्थक है जितना कि विज्ञान के बगैर। सिद्धांत विज्ञान व तत्त्वज्ञान दोनों के विशिष्ट तत्त्वों का एक सम्मिश्रण है। सिद्धांत व्यवहार नहीं है, क्योंकि करने में भी सोचने की आवश्यकता होती है। सिद्धांत में ऐसा परिकल्पनात्मक ढांचा निहित होता है, जिसका व्यवहार में वस्तुतः अभाव होता है। सिद्धांत मात्र 'व्याख्या' नहीं है क्योंकि 'व्याख्या करना' 'सोचने' का एक हिस्सा मात्र है, इसके दूसरे भाग में, उदाहरणार्थ, किसी दृश्यघटना को 'खोजना', 'तय करना', 'बढ़ाना', 'स्पष्ट करना' और 'गठित करना' निहित है। सिद्धांत प्राक्कल्पना नहीं है क्योंकि प्राक्कथन तथ्यों की एक अस्थाई कल्पना को इंगित करता है और इसी कारण उस बात से रहित होता है जो सिद्धांत में सचमुच होती है, 'निश्चतता'।

सिद्धांत तत्त्वज्ञान नहीं है क्योंकि जबकि सिद्धांत 'कुछ' के विषय में होता है, तत्त्वज्ञान 'सब कुछ' के विषय में होता है। सिद्धांत विचार नहीं है क्योंकि यह विचार के विषय में चिंतन है और न कि स्वयं में एक सम्पूर्ण विचार। वास्तव में सिद्धांत व कारण के बीच काफी कुछ उभयनिष्ट है क्योंकि वैज्ञानिक होने का दावा दोनों ही करते हैं फिर भी सिद्धांत कारण के परे विज्ञान के परे देखता है।

सिद्धांत, हम यह बात कार्ल ड्यूश (द नर्व्ज ऑफ गवर्नमेण्ट, 1963) के साथ जोड़ सकते हैं, असम्बद्ध आंकड़ों को स्पष्ट करने, व्यवस्थित करने व उसका वर्णन करने का प्रयास करता है। पहचान करता है कि क्या युक्ति–संगत है और इसी कारण किसी भी दृश्यघटना में जो बात लुप्त होती है उसे सूचित करता है; प्रेक्षणीय तथ्यों के आधार पर पूर्वनुमान करता है। सिद्धांत व्यवहार हेतु एक मार्गदर्शक है, जो बात वर्णन मात्र होती है उसमें इजाफा करता है। प्राक्कथन को स्पष्ट करता है और तत्त्वज्ञान के एक भाग के रूप में उस विचारार्थ विषय को स्पष्ट करता है जो कि कारण व अभिदृष्टि दोनों की आवश्यकताओं से मेल खाता है।

2.2.2 राजनीति–सिद्धांत : निहितार्थ

सिद्धांत में विज्ञान के साथ–साथ तत्त्वज्ञान भी निहित होता है। इसका मतलब है कि इस पृष्ठभूमि के खिलाफ कहा जा सकता है कि एक सिद्धांती वैज्ञानिक व दार्शनिक दोनों होता है; एक सिद्धांती वैज्ञानिक के मुकाबले कहीं अधिक होता है; वह एक दार्शनिक से भी अधिक होता है। राजनीति में प्रयुक्त किए जाने पर सिद्धांत को समझने का अर्थ होगा राजनीति को एक सिद्धांत के रूप में, एक विज्ञान के रूप में और तत्त्वज्ञान के रूप में भी समझना। ब्ल्यूहैम इस प्रकार राजनीति–सिद्धांत को ऐसे स्पष्ट करते हैं, ''राजनीतिक आखिरकार जो है उसकी एक व्याख्या राजनीति जगत का एक सामान्य बोध एक आचार–विचारादि–सम्बन्धी मानक। इसके बगैर हम किसी घटना को राजनीतिक रूप में पहचानने, वह क्यों हुई के विषय में कुछ भी तय कर पाने, वह अच्छी थी या बुरी का निर्णय कर पाने, अथवा यह निर्धारित कर पाने कि आगे क्या हो सकता था में असमर्थ रहते। एक सिद्धांत हमें यह तादात्म्य स्थापित करने में मदद करता है कि राजनीति की किसी घटना–विशेष में क्या हो रहा है... वह हमें कोई घटना क्यों घटी यह बात स्पष्ट करने में और भावी घटनाओं का पूर्वानुमान करने में मदद करता है... सिद्धांत क्या हो रहा है का मूल्यांकन करने और हमारे राजनीतिक विकल्पों का मार्गदर्शन करने हेतु एक साधन भी है...।'' राजनीति–सिद्धांती का काम सचमुच महत्त्वपूर्ण है। ब्रैक्ट यह कहते हुए इस पर गौर करते हैं कि ''यह प्रकार्य राजनीति–सिद्धांती का है कि समाज के राजनीतिक जीवन की तत्काल व संभावित समस्याओं को दूसरों से पहले देखे; दूसरों की अपेक्षा अधिक गंभीरता से विश्लेषित करे; उन वैज्ञानिक कार्य–प्रक्रियाओं के साथ, जिनसे होने वाले प्रत्याशायोग्य परिणामों पर पूरी तरह से सोचा जा चुका है, यथापूर्व अग्रिम रूप से व्यावहारिक राजनीतिज्ञों की कमी पूरी करे; तथा उसे न सिर्फ प्रतिभाशाली विचार ही वरन् ज्ञान का वह ठोस आधार भी प्रदान करे जिस पर निर्माण करना है।'' जब राजनीतिक–सिद्धांत अपने कार्य को भली भांति निष्पादित करता है वह आगे कहते हैं, ''मानवता के विकास हेतु वह हमारे संघर्ष में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शस्त्रों में से एक होता है।''

सिद्धांत क्या होता है अथवा राजनीति–सिद्धांत क्या है पर चर्चा हमें राजनीति–सिद्धांत के लाक्षणिक निहितार्थों अथवा मुख्य पहलुओं को पहचानने में मदद करेगी। इनमें से कुछ हैः

1) वह क्षेत्र जिसमें राजनीति–सिद्धांत काम करता है केवल राजनीति के क्षेत्रों नागरिक का राजनीतिक जीवन, उसका राजनीतिक व्यवहार, उसके राजनीतिक विचार, वह सरकार जो वह स्थापित करने के प्रयास में है और इस प्रकार की किसी सरकार से प्रत्याशित कार्य तक फैला है।
2) वे पद्धतियां जो राजनीति–सिद्धांत अपनाता है, में शामिल हैं राजनीतिक दृश्यघटना का वर्णन, व्याख्या और अन्वेषण।
3) यद्यपि राजनीति–सिद्धांत पूर्णतया इस बारे में है कि 'राजनीतिक' क्या है, फिर भी यह 'राजनीतिक' को 'सामाजिक', 'आर्थिक', 'मनोवैज्ञानिक', 'पारिस्थितिक', 'नैतिक' इत्यादि के सम्बन्ध में समझने का प्रयास करता है।
4) वह लक्ष्य जो राजनीति–सिद्धांत प्राप्त करने की चेष्टा करता है वह है एक अच्छे समाज में एक अच्छे राज्य का निर्माण और इस प्रक्रिया में, ऐतिहासिक रूप से कसौटी पर कसे व युक्तियुक्त रूप से हासिल प्रक्रियाएं, कार्यविधियां, संस्थाएं व प्राधार जन्म लेते हैं।

5) एक विचार वस्तु के रूप में राजनीति–सिद्धांत राजनीतिक घटनादृश्य की व्याख्या करने, मूल्यांकन करने व पूर्वानुमान करने का प्रयास करता है और इस प्रक्रिया में न सिर्फ वैज्ञानिक रूप से जांच–योग्य मानदण्डों की रचना का निर्माण करता है लेकिन मानव व्यवहार के नियमों के रूप में मूल्यों का भी सुझाव देता है।

6) राजनीति–सिद्धांत व्यवस्थाकारी और व्याख्यात्मक दोनों है।

2.2.3 राजनीति–सिद्धांत : अन्तर्वस्तु

राजनीति, एक राजनीतिक कार्यकलाप के रूप में सामान्यतः स्वयं–चेष्टारत व्यवहार, मिथ्याचार, व प्रवृत्तियों के व्यवहारकौशल को प्रदर्शित करते वैराग्यप्रधान दार्शनिक सिद्धांत तथा संशयवाद से जुड़ी होती है। इस नकारात्मक सम्पृक्तार्थ का शायद ही कोई आधार हो। राजनीति–सिद्धांत न तो राजनीतिक कारिस्तानी का कोई सिद्धांत है न ही राजनीतिक कुचक्रों की कोई परिकल्पना। यह तो उस चीज का एक अनुशासनबद्ध अन्वेषण है जो 'राजनीतिक' को संघठित करता है। इसकी विषय–वस्तु समय–समय पर बदलती रही है। पाश्चात्य राजनीतिक परम्परा में प्राचीन यूनानियों से लेकर अठारहवीं शती के अंत तक राजनीति–सिद्धांत ने स्वयं को अधिकतर राजनीति को 'क्या होना चाहिए' से संबद्ध रखा। लगभग पूरी उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में, राजनीति–सिद्धांत में, मुख्यतः एक निर्णयन निकाय के रूप में सरकार की प्रकृति व संचयन का ही क्रिया–व्यापार आता था। तदोपरांत एक ऐसा काल आया जब विज्ञानवाद के प्रभावाधीन कुछ अमरीकी राजनीति–वैज्ञानिकों ने राजनीति–सिद्धांत के हस्तांतरण को उनके अधिकांशतः ब्रिटिश, परम्परावादी लोगों के विरूद्ध घोषित कर दिया जो राजनीति–सिद्धांत के मूल्य की एक राजनीतिक कार्रवाई के मार्गदर्शक के रूप में वकालत करते थे। संसार के तेजी से बदलते स्वरूप के साथ, राजनीति–सिद्धांत ने 'विचारधारा की समाप्ती' व 'इतिहास का अंत' निहित बहसों के भीषण आक्रमणों में सुखपूर्वक अपनी उत्तरजीविता बनाए रखी है। राजनीति–सिद्धांत का कार्य–व्यापार, वर्तमान में, सरकार की प्रकृति व उचित प्रयोजन दोनों हो गया है।

राजनीति–सिद्धांत, राजनीतिक दृश्यघटना के एक अनुशासनबद्ध अन्वेषण के रूप में सरकार की संस्थाओं तथा उस पूरी राजनीतिक प्रणाली के क्यों व क्या से निकट से जुड़ी हैं जिसमें सरकार कार्यरूप में व्यवहृत है। राजनीति–सिद्धांत का अध्ययन करना उस प्रसंग का अध्ययन करना है, जिसमें वह विद्यमान होता है। राजनीति–सिद्धांत को राजनीतिक व्यवस्था के दायरे में राजनीतिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के दायरे में सामाजिक व्यवस्था को उस अवधि जिसमें वह विद्यमान है और उस परिवेश जिसमें वह पलता है, में समझे जाने की आवश्यकता है।

राजनीति–सिद्धांत की विषयवस्तु में इस बात की समझ शामिल है कि सचमुच 'राजनीतिक' क्या है जो गैर–राजनीतिक है उसके साथ राजनीतिक को जोड़ना तथा उसकी अपनी प्रकृति जानने के लिए बहुत से सामाजिक विज्ञानों के परिणामों को एकीकृत करना व समन्वित करना। इसका कार्यक्षेत्र जो इसके तहत आता है वहीं तक ही सीमित नहीं है बल्कि वहां तक है जो उसकी परिधि व उसके परे भी विद्यमान है।

यह तजवीज करते हुए कि जो राजनीतिक है उसे परिभाषित करने का कार्य एक सतत कार्य है। शैल्डन वॉलिन (पॉलिटिक्स एण्ड विजन, 1960) राजनीति–सिद्धांत की विषयवस्तु में निम्नलिखित को शामिल करते हैं:

1) समूहों, व्यक्तियों अथवा समाजों के बीच प्रतिस्पर्धात्मक लाभ हेतु तलाश के इर्द–गिर्द केन्द्रीभूत होती एक प्रकार की गतिविधि;

2) एक प्रकार का कार्यकलाप जो इस तथ्य के अनुरूप है कि यह परिवर्तन व आपेक्षिक अभाव की स्थिति में होता है;

3) एक प्रकार का कार्यकलाप जिसमें लाभकारी के लक्ष्य ऐसे महत्त्व के परिणाम पैदा करते हैं कि पूरे समाज अथवा उनके एक खास हिस्से को वे एक महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं।

2.3 राजनीति–सिद्धांत की प्रकृति

स्पष्ट रूप से यह जानना कि राजनीति–सिद्धांत वस्तुतः क्या है, इसके स्वभाव को जानना है। राजनीति–सिद्धांत राजनीतिक विचार कहा जाता है और यही कारण है कि कुछ ऐसे लोग भी हैं जो राजनीति–सिद्धांत का वर्णन अनेक

विचारकों की कल्पना–कृतियों को द्योतित करने के रूप में करते हैं। परन्तु यह वो नहीं है जो राजनीतिक विचार होता है। अन्य ऐसे लोग भी हैं जो राजनीति–सिद्धांत को राजनीति–दर्शन के बराबर मानते हैं। यह सत्य है कि राजनीति–सिद्धांत राजनीति–दर्शन के एक भाग का निर्माण करता है परन्तु यह मात्र एक भाग ही है; एक भाग कभी भी जितना है सब नहीं हो सकता और एक भाग के रूप में यह एक भाग ही रहता है, यथा सम्पूर्ण का एक भाग। फिर भी अन्य ऐसे लोग भी हैं जो राजनीति में विज्ञान को सम्मिलित करने के बाद उसे राजनीति–विज्ञान कहलाना पसन्द करते हैं। परन्तु वे लोग जो इसे एक राजनीति का विज्ञान माने जाने का हठ करते हैं। यह स्वीकार करने से इंकार करते हैं कि कभी राजनीति का कोई इतिहास अथवा राजनीति की कोई संस्कृति रही थी। ब्रैक्ट इसीलिए कहते हैं... ''राजनीति–दर्शन, राजनीति–सिद्धांत और राजनीति–विज्ञान अब अन्तर्परिवर्तनीय शब्द नहीं रहे हैं... विज्ञान पर जोर दिए जाने और राजनीति–दर्शन से भेद किए जाने के साथ राजनीति–विज्ञान अब राजनीति–दर्शन से सहज ग्राह्य अंतर में वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग द्वारा संकुचित प्रयासों की ओर संकेत करता है जो कि इन सीमाओं को लांघने को स्वतंत्र है। इसी प्रकार राजनीतिक 'सिद्धांत' को अब जब राजनीतिक 'दर्शन' के सामने रखा जाता है तो सामान्यतः इसका अर्थ सिर्फ राजनीति–दर्शन से भिन्नता में वैज्ञानिक सिद्धांत की ओर संकेत करना होता है। कोई भी प्रत्याशित शोध–प्रबंध जो कि राजनीति–दर्शन द्वारा प्रस्तावित है केवल एक 'कारगर प्राक्कल्पना', वैज्ञानिक यंत्र–मंजुषा में एक सहायक के रूप में और न कि... या अभी न कि वैज्ञानिक ज्ञान के एक अंश के रूप में (वैज्ञानिक) राजनीति–सिद्धांत का हिस्सा हो सकता है।''

राजनीति–सिद्धांत तमाम इतिहास नहीं है बल्कि यह संकुचित अर्थ में इतिहास है; यह तमाम दर्श नहीं है बल्कि यह कुछ अंश में दर्शन है; यह तमाम विज्ञान नहीं है बल्कि वहीं तक विज्ञान है जहां तक यह कारण का जवाब देता है। एक राजनीति–सिद्धांत को एक भाग इतिहासकार, एक भाग दार्शनिक और एक भाग वैज्ञानिक होना पड़ता है।

2.3.1 राजनीति–सिद्धांत इतिहास के रूप में

इस बात की कि राजनीति–सिद्धांत इतिहास है जौर्ज सैबाइन जैसे विद्धानों द्वारा जोरदार वकालत की गई है, परन्तु समग्र इतिहास राजनीति–सिद्धांत नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे समग्र राजनीति–सिद्धांत इतिहास नहीं है। राजनीति–सिद्धांत के बिना इतिहास एक बेबुनियाद इमारत है। राजनीति का अध्ययन और विश्लेषण करते समय हम जो समझना सीखते हैं वही है राजनीतिक परम्परा और व्यवहार का एक असली तरीका। यह इसी कारण उचित होगा कि राजनीति का अध्ययन आवश्यक रूप से एक ऐतिहासिक अध्ययन हो। इतिहास, हमे पता होना चाहिए मृत व दफन की कथा से कहीं अधिक है; यह अनुभव व ज्ञान का; क्या पाया गया व क्या खोया गया, की सफलताओं व विफलताओं का एक भण्डारगृह है। यही सार–योग है तथा एक ही साथ एक नए विकास का गठन–प्रमुख, कुछ ऐसा जैसा कि प्रोफेसर एल.एस. राठौर कहते हैं, ''शाश्वत रूप से महत्त्वपूर्ण व निदेशात्मक, मनुष्य की अनन्त प्रगति में समकालीनता से अपृथक्य रूप से जुड़ा है।'' ''इतिहास पर ध्यान मत दो'', वह चेताते हैं, ''और राजनीति–सिद्धांत का आनंद फिर कभी दोबारा नहीं मिलेगा।''

इतिहास के रूप में राजनीति–सिद्धांत उसे चुनौती देता है जो अपनी उपयोगिता खो चुका है। अब कोई अफसोस नहीं करता कि राज्य एक दैविक सृष्टि अथवा प्रकृति के राज्य में एक ठेके का परिणाम रहा है। इतिहास के रूप में राजनीति–सिद्धांत उसे बचाए रखता है जो महत्त्व का है और आने वाले लम्बे समय तक इसका पोषण करने हेतु भावी पीढ़ी की मदद करता है। न्याय, स्वतंत्रता, समानता, कर्तव्यों जैसी संकल्पनाएं जो कि समय के वर्षक्रम से लिखे हुए इतिहासों से जन्मी, आज राजनीति–सिद्धांत द्वारा ऊँचे स्थान पर रखी जा रही है और भविष्य में ऐसे ही रखी जाती रहेंगी। वास्तव में इतिहास की कभी पुनरावृत्ति नहीं होती परन्तु इसकी शायद ही उपेक्षा की जा सकती है। इतिहास से स्वयं सम्बन्ध विच्छेद कर लेने के प्रयास में राजनीति–सिद्धांत अपना निजी महत्त्व खो देता है क्योंकि मूल के अभाव में कोई फल पैदा नहीं हो सकता जैसे कि सीली ने काफी पहले कहा था। इतिहास के माध्यम से ही यह राजनीति–सिद्धांत क्या चीज है की व्याख्या करता है। किसी भी मूल–पाठ को बिना उसके प्रसंग के नहीं समझा जा सकता है। प्लेटो का साम्यवाद उससे अर्थमुक्त रूप से भिन्न है जिसे मार्क्स का साम्यवाद होने का दावा किया जाता है और प्रत्येक के साम्यवाद को उनके काल विशेष के इतिहास को समझकर ही समझा जा सकता है। यह उसका युग ही होता है जो किसी के राजनीति–सिद्धांत को उद्यत करता है और आगे बढ़ाता है : इतिहास राजनीतिक सिद्धांत का विकास–पुनर्विकास करता है। तब कैसे राजनीति–सिद्धांत

अपने एक पहलू की अनदेखी कर सकता है यथा ऐतिहासिक पहलू? सैबाइन लिखते हैं कि महान राजनीति–सिद्धांत ''एक वर्तमान परिस्थिति के विश्लेषण में और अन्य परिस्थितियों हेतु सुझावात्मक'' दोनों में बढ़कर होता है। जिस प्रकार, ''एक अच्छा राजनीति–सिद्धांत'', प्रोफेसर एस.पी. वर्मा (मॉडर्न पॉलिटिकल थिअरी, 1987) लिखते हैं, ''यद्यपि यही ऐतिहासिक परिस्थितियों के एक विशिष्ट समूह का परिणाम था आगामी सभी कालों के लिए एक महत्त्व रखता है। यथार्थतः राजनीति–सिद्धांत की यह सार्वभौमिक विशेषता ही है जो इसे आदरयोग्य बनाता है।'' (देखें जोर्ज एच. सैबाइन, ''वॉट इज पॉलिटिकल थिअरी?'' जर्नल ऑफ पॉलिटिक्स, खण्ड–1, न.1, फरवरी 1939)।

राजनीति–सिद्धांत इस अर्थ में इतिहास है कि यह काल, स्थान और उन परिस्थितियों को समझने की चेष्टा करता है जिनमें वह जल्म लेता है। यदि वह अपने ऐतिहासिक प्रसंग पर ध्यान नहीं देता है, वह अपनी शक्ति, अपना केन्द्र व अपना संदेश खो देता है। किसी भी राजनीति–सिद्धांत को कुछ तथ्य सामने रखने होते हैं। जैसे तर्काधार (तथ्यात्मक–ऐतिहासिक कारक, जैसा कि सैबाइन कहते हैं, परिस्थितियां जिनमें यह पनपता है (अस्थायी कारक, जैसा कि सैबाइन इसका वर्णन करते हैं, और संदेश, यथा, राजनीतिक परिकल्पना (मूल्यनकारी कारक, जैसा कि सैबाइन आग्रहपूर्वक कहते हैं)। राजनीति–सिद्धांत नितान्ततः अथवा केवल इतिहास (उन तथ्यों का एक वृत्तान्त जिन पर वह काम करता है और अतीत यानी इतिहास, में काम कर चुका है) नहीं है, यह एक विज्ञान है जहां तक की इसे पृथक्करण में न समझा जाए और एक दर्शन भी है जहां तक की यह प्रेरणा प्रदान करता है।

2.3.2 राजनीति–सिद्धांत दर्शन के रूप में

यह कि राजनीति–सिद्धांत को दर्शन के रूप में लिओ स्ट्रौस जैसे विद्वानों द्वारा बहुत अच्छी तरह स्पष्ट एवं सुदृढ़ता से अभिव्यक्त किया गया है (''वॉट इज पॉलिटिकल फिलोसॅफी?'' जर्नल ऑफ पॉलिटिक्स, ग्प्ए अगस्त 1967), परन्तु समग्र दर्शन राजनीतिक दर्शन नहीं है जिस प्रकार समग्र राजनीति–सिद्धांत दर्शन नहीं है। एक गूढ़ अध्ययन के रूप में सामान्यतः सम्पूर्ण ब्रह्मांड को और विशेषतः आदर्शों, मानकों व मूल्यों के अपने में समाहित करते हुए दर्शन ही पूरे संसार पर नियंत्रण करने वाले सामान्य नियमों का सार योग है। इसने अपने मूल्यांकनात्मक कारक के रूप में युगों तक राजनीति–सिद्धांत को भली प्रकार संतुष्ट किया है, जैसा कि सैबाइन ने कहा है। दर्शन ने, जैसा कि कैण्ट कहते हैं तीन प्रश्नों का उत्तर दिया है : ''मैं क्या जान सकता हूँ?'' ''मुझे क्या करना पड़ेगा?'' व ''मैं किसकी आशा कर सकता हूँ?'' और यही है जो दर्शन को जीवन का ध्रुवतारा बना देता है। बिना दर्शन के कोई भी राजनीति–सिद्धांत कभी अस्तित्व में नहीं रह सकता; भविष्य पर नजर रखे बगैर कोई भी वर्तमान कभी कायम नहीं रह सकता, क्योंकि कोई भी वर्तमान अपने अतीत के बगैर नहीं डटा रह सकता।

राजनीति–सिद्धांत एक दर्शन है क्योंकि यह न सिर्फ विषयों की प्रकृति को जानने की चेष्टा करता है बल्कि यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि विषय वस्तुतः क्यों अस्तित्व रखते हैं। किसी कर्म अथवा विचार को केवल उसका मूल्यांकन करके ही समझा जाता है। मूल्यांकन बोध का एक हिस्सा है। सिद्धांत से भिन्न रूप में दर्शन एक 'बुद्धि हेतु खोज है' है, अथवा जैसा कि स्ट्रौस दृष्टिकोण रखते हैं, ''सार्वत्रिक ज्ञान हेतु, समष्टि के ज्ञान हेतु खोज''। राजनीति–सिद्धांत दर्शन के रूप में ''राजनीतिक विषयों को तथा सटीक, अथवा अच्छी राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति को यथार्थतः जानने का प्रयास'' है (स्ट्रौस)। राजनीति वो नहीं है जिसका अभिग्रहण अथवा मताग्रह किया जाता है। दरअसल, एक राजनीति–सिद्धांती से उम्मीद की जाती है कि एक से अधिक अभिधारणाएं अथवा मत रखे; उसको जानकारी रखनी पड़ती है। दर्शन तब प्रकट होता है जब मत अभिधारण ज्ञान की ऊँचाइयां छू लेती है और यही है जो यथार्थतः राजनीति–सिद्धांत का काम है। राजनीति–सिद्धांत दर्शन के रूप में ''राजनीतिक विषयों की प्रकृति के ज्ञान द्वारा राजनीतिक विषयों की प्रकृति के विषय में मतों/अवधारणाओं का स्थान ले लेने का एक प्रयास'' है (स्ट्रौस)।

मूल्य, स्ट्रौस मानते हैं, राजनीति–सिद्धांत के एक अनिवार्य अवयव है ठीक उसी प्रकार जैसे वे दर्शन के अनिवार्य अवयव हैं। प्रत्येक राजनीति दर्शनशास्त्री को अपने हक में एक अध्यापक बनना पड़ता हैः उसे प्राध्यापन करना पड़ता है; उसे अध्यापन करना पड़ता है; उसे प्रतिपादन करता पड़ता है। प्रोफेसर वर्मा, इसीलिए लिखते हैं कि प्रतिपादन का लक्ष्य राजनीति–सिद्धांती के सामने हमेशा रहता है। ''कुछ आधुनिक लेखकों ने जिसका 'राजनीति–दर्शन की जनवार्ता' अथवा

मात्र 'विचारधारा' के में वर्णन किया है, राजनीति–सिद्धांत की समझ हेतु अत्यावश्यक है।'' राजनीति–सिद्धांत न सिर्फ व्याख्या करता है, बल्कि अनुकूलतः अथवा प्रतिकूलतः प्रभावित भी करता है। एक राजनीतिक गतिविधि के मूल्यांकनात्मक परिप्रेक्ष्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि उसके तत्यात्मक परिप्रेक्ष्य। ये, इस अर्थ में मूल्य व तथ्य ही हर किसी राजनीति–सिद्धांत का एक अभिन्न भाग बनते हैं।

2.3.3 राजनीति–सिद्धांत विज्ञान के रूप में

राजनीति–सिद्धांत एक विज्ञान है इस बात पर ऑर्थर बैंटली (द प्रोसैस ऑफ गवर्नमैंट, 1908) से लेकर जौर्ज कैटलिन (द सांइस एण्ड मैथॅड ऑफ पॉलिटिक्स, 1927); डैविड ईस्टन (द पॉलिटिकल सिस्टम, 1953) व रॉबर्ट डाल (मॉडर्न पॉलिटिकल एनालिसिस, 1963) तक विद्वानों द्वारा प्रभावशाली ढंग से जोर दिया गया है; परन्तु समग्र विज्ञान राजनीति–सिद्धांत नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे समस्त राजनीति–सिद्धांत विज्ञान नहीं है। राजनीति–सिद्धांत इस अर्थ में एक विज्ञान नहीं है, जैसे कि रसायनशास्त्र या भौतिकशास्त्र या गणितशास्त्र एक विज्ञान हैं। यह बिल्कुल इस रूप में कोई विज्ञान नहीं है, जैसे कि ये प्राकृतिक अथवा भौतिक विज्ञान हैं, क्योंकि राजनीति–सिद्धांत में उस भांति कोई सार्वत्रिक रूप से मान्य सिद्धांत नहीं होते, न स्पष्ट कारण–प्रभाव सम्बन्ध होते हैं, न प्रयोगशालाएं होती हैं और न ही पूर्वानुमान लगाए जाते हैं। जिस प्रकार ये प्राकृतिक व यथार्थ विज्ञानों में पाए जाते हैं। यह एक विज्ञान है, जहां तक कि यह उन संकल्पनाओं व मानदण्डों को स्वीकार करता है जो प्रेक्षणीय व परीक्षणीय दोनों हैं और जहां तक कि यह विवके व बुद्धिवाद की आवश्यकताओं को पूरा करता है। सामान्यतः अमेरिकन समाज–विज्ञान अन्वेषकों ने और विशेष रूप से व्यवहारवादियों ने, राजनीति का एक विज्ञान बनाने का प्रयास किया और इस प्रक्रिया में उस ओर जुटे जिसे 'अवव्याख्यावाद' कहा जा सकता है। राजनीति–सिद्धांत एक विज्ञान है जहां तक कि वह हो सकता है व वास्तव में किसी सामाजिक जनसमूह पर प्रयोग किया जाता है तथा यथार्थ विज्ञानों के निर्णायक नियम सीमाओं के भीतर उसी प्रकार प्रयोज्य हैं जैसे कि किसी सामाजिक विज्ञान में। विज्ञान के रूप में राजनीति–सिद्धांत मात्र एक सामाजिक विज्ञान है। अपनी कार्यप्रणाली, अपने उपगम्य तथा अपने विश्लेषण में यह एक विज्ञान है। उस सीमा तक यह एक विज्ञान है, एक आदि विज्ञान जैसा कि इसकी अरस्तु ने व्याख्या की थी। यह एक विज्ञान है जहां तक कि उसके निष्कर्ष 'अध्ययन', 'प्रेक्षणों', 'प्रयोगों' आदि उन अभिलक्षणों के अनुसार निकाले जाते हैं, जो विज्ञान की किसी भी सामान्य परिभाषा के साथ चलते हैं। राजनीति को एक विज्ञान बनाने के लिए तथा राजनीति को यथार्थ विज्ञान बनाने के लिए 'तकनीकें' व 'साधन' ढूंढने के लिए अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है; कोई फर्क नहीं पड़ता कि इस प्रक्रिया में कोई राजनीति–सिद्धांत शेष रहता है अथवा नहीं। राजनीति–सिद्धांत में विज्ञान की भूमिका उस बिंदु तक ही सीमित रहनी चाहिए जहां तक यह किसी राजनीतिक दृश्यघटना को समझने में मदद करें और उस बिंदु तक विज्ञान को राजनीति–सिद्धांत के क्षेत्र में प्रवेश मिलना चाहिए। राजनीति–सिद्धांत आत्मपरकता के साहचर्य में वस्तुपरकता, मूल्यों के सम्बन्ध में तथ्यों, सिद्धांत के साथ ही अनुसंधान को स्वीकार करता है। विज्ञान के रूप में राजनीति–सिद्धांत निष्पक्ष, अनुत्कट और वस्तुपरक ज्ञान को जन्म देता है (देखें, कोलिन हे, पॉलिटिकल एनालिसिस, 2002)।

सामाजिक विज्ञानों की अपनी सीमाएं होती हैं। दूसरी ओर, खेल के नियम (यथार्थ विज्ञानों के) समय साथ नहीं बदलते हैं। भौतिकी के नियम, उदाहरण के लिए सभी कालों भूत, वर्तमान व भविष्य में सभी परिस्थितियों के सम्बन्ध में माने जा सकते हैं। परन्तु यह सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। '' 'आर्थिक' व 'राजनीतिक की प्रकृति', कोनिन है कहते हैं, ''कीन्स व मार्क्स के अनुसार इस भांति भिन्न है कि 'भौतिक' व 'प्राकृतिक' न्यूटन व आइन्सटाइन के अनुसार नहीं है।'' हमें याद रखना होगा कि (1) ''सामाजिक प्रकार, प्राकृतिक प्राधारों से भिन्न, उन गतिविधियों पर निर्भरता से परे अस्तित्व नहीं रखते हैं जिन पर वे नियंत्रण रखते हैं'', (2) सामाजिक प्राधार, प्राकृतिक प्राधारों से भिन्न, अभिकर्त्ताओं के उन कामों की भावना से परे अस्तित्व नहीं रखते हैं जो कि वे अपने कार्यकलाप में कर रहे हैं।'' (3) सामाजिक प्राधार, प्राकृतिक प्राधारों से भिन्न, केवल अपेक्षाकृत रूप से स्थायी प्राकृतिक प्राधारों से भिन्न, केवल अपेक्षाकृत रूप से स्थायी हो सकते हैं।'' (देखें आर, भास्कर, द लिमिटस ऑफ नैचुरलिज्म, 1979)। यहीं सामाजिक विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न हैं। राजनीति–सिद्धांत की सीमाएं राजनीतिक विश्लेषण के नीतिशास्त्र के भीतर तय होती है।

2.4 राजनीति–सिद्धांत : विकास व उत्पत्ति

राजनीति–सिद्धांत, पश्चिम में, विभिन्न चरणों से गुजर चुका है। एक समय था जब प्राचीन यूनान व मध्यकाल के दौरान, राजनीति–सिद्धांत राज्य के नैतिक लक्ष्यों को पहचाने की चिन्ता खुद करता था, यथा उन उद्देश्यों को जो कि राज्य प्राप्त करने हेतु दिलो–दिमाग में रखता था। प्लेटो व अरस्तु दोनों ही न्यायशीलता स्थापित करने अथवा व्यक्ति को उत्तम जीवन प्रदान करने हेतु राज्य के प्रकार्यों पर जोर देते थे। मध्यकालीन राजनीति–सिद्धांत सम्मिलि हुआ, क्योंकि वह धर्म के साथ था, ईश्वर के पास स्थान पाने हेतु व्यक्ति को तेयार करने व प्रशिक्षित करने के लिए राज्य से मांग करता था। आरम्भिक आधुनिक युगीन राजनीति–सिद्धांत ने राज्य उत्पत्ति–सम्बन्धी परिकल्पनाओं पर विचार–विमर्श का प्रयास किया। इसका अनुसरण उन दार्शनिकों द्वारा किया गया जिनके लिए राज्य का संगठन व प्रकार्य ही राज्य के मुख्य गंभीर चिंतनीय विषय थे। बीसवीं शती–मध्य का राजनीति–सिद्धांत आमतौर पर सत्ता की संकल्पना को राज्य का मूल विषय बनाते हुए, राज्य की संस्थाओं से वास्ता रखता था। राजनीति–सिद्धांत के विकास व मूल्यांकन को विस्तारपूर्वक तीन मुख्य धाराओं में प्रतिपादित किया जा सकता है। ये हैं: व्यापक राजनीति–सिद्धांत, आधुनिक राजनीति–सिद्धांत और समकालीन राजनीति–सिद्धांत। व्यापक, आधुनिक व समकालीन में राजनीति–सिद्धांत का वर्गीकरण, वास्तव में, प्रासंगिक है। व्यापक अथवा पारम्परिक को जो आधुनिक से अलग करता है परवर्ती में विज्ञान का तत्त्व और पूर्ववर्ती में इसका अभाव ही है। राजनीति–सिद्धांत की व्यापक परम्परा में दर्शनशास्त्र प्रमुख है। जबकि आधुनिकतावादी पर विज्ञान व उसकी कार्यप्रणाली हावी रहते हैं। एक अपवाद रूप में पश्चिम की प्राचीन व मध्यकालीन अवधियों में कोई अरस्तु अथवा थॉमस हो सकता है, जिसने कि जनजीवन के नियमों को खोजते–खोजते विज्ञान तत्त्व पर जोर दिया होगा और हमारे जमाने में एक स्ट्रौस हो सकता है जिसने राजनीति के अध्ययन में दर्शन की उपयोगिता को देखा होगा। इसी प्रकार आधुनिक राजनीति–सिद्धांत एवं समकालीन राजनीति–सिद्धांत कुछ–कुछ भिन्न हैं। कम से कम अपने सत्त्व में। आधुनिक राजनीति–सिद्धांत आनुभविक और वैज्ञानिक है। जबकि समकालीन राजनीति–सिद्धांत मीमांसात्मक एवं ऐतिहासिक है। समकालीन राजनीति–सिद्धांत व्यापक व आधुनिक राजनीति–सिद्धांत दोनों के सत्त्व को संश्लेषित करने का प्रयास करता है।

2.4.1 व्यापक राजनीति–सिद्धांत

व्यापक राजनीति–सिद्धांत प्राचीन यूनानी सभ्यता में सुकरात, प्लेटो व अरस्तु के लेखों में उभरा और उन्नीसवीं शती के आरम्भ तक जारी रहा। राजनीति–सिद्धांत से जुड़े व्यापक प्रतिमान में शैल्डन वॉलिन के अनुसार निम्नलिखित बाते हैं:

1) व्यापक राजनीति–सिद्धांत प्रजा से सम्बन्धित विषयों पर विश्वसनीय जानकारी, विश्वास हेतु एक बुद्धिसंगत आधार स्थापित करने के लिए एक मीमांसात्मक अनुसरण; कार्रवाई हेतु एक बुद्धिसंगत आधार स्थापित करने के लिए एक राजनीतिक रूप से प्रेरित अनुसरण पर अभिलक्षित है।
2) उसने राजनीतिक को जनता, जनसाधारण के साथ पहचानने का प्रयास किया। ग्रीक पॉलिज, रोमन रैस पब्लिका और कॉमनवील का मध्ययुगीन प्रयोग सभी उसकी भागीदारी का संकेत करते थे जो साझीदारों के रूप में लोगों के बीच सर्वमान्य था।
3) इसकी मूल विश्लेषण इकाई हमेशा राजनीतिक समष्टि, निकाय–नीतिक, रही, कार्यकलाप, सम्बन्ध, व विश्वास का संकेत करने अन्तर्सम्बन्ध प्राधार : कार्यकलाप व्यवस्था, युद्ध, शिक्षा, धार्मिक प्रथाओं से जोड़कर, सम्बन्धों में उन्हें शामिल करते हुए जो सामाजिक वर्गों के बीच, शासकों व शासितों के बीच, उत्कृष्टों व निकृष्टों के बीच थे; विश्वास, जैसे कि न्यायशीलता, समानता, प्राकृतिक नियम, इत्यादि।
4) अपने आपको राजनीतिक समष्टि से जोड़ते हुए व्यापक राजनीति–सिद्धांत ने व्यवस्था, संतुलन, साम्य व साम जस्य पर जोर दिया। यही कारण है उसे इस प्रक्रिया में, संघर्षों, अराजकता, अस्थिरता व क्रांति जैसी शर्तों से जूझना पड़ा।
5) व्यापक राजनीति–सिद्धांत ने राजनीतिक दृश्यघटना की एक अधिक विस्तृत व्याख्या और विकल्पों की वृहत्तर श्रेणी प्रदान करने हेतु तुलनात्मक अध्ययनों पर दबाव दिया। यही कारण था कि व्यापक राजनीति–सिद्धांत ने राजनीतिक स्वरूपों का एक वर्गीकरण (उदाहरणार्थ, राजतंत्र, अभिजात तंत्र, लोकतंत्र व उनके रूपान्तर) तथा कानून, नागरिकता, न्यायशीलता व भागीदारी जैसी संकल्पनाओं का एक वर्ग विकसित किया ताकि उनके बीच भेद व समानताओं की व्याख्या की जा सके।

6) व्यापक राजनीति–सिद्धांत, आमतौर पर, मनोगत दृश्य में नीतिविज्ञान रहा था। इसकी प्रतिक्रिया एक नैतिक दृष्टिकोण में प्रकट हुई थी : प्लेटो ने आदर्श राज्य की; अरस्तु ने एक राज्य की जो यथासंभव सर्वोत्तम साधित कर सके; संत औगस्तीन ने ईश्वरीय नगर की वकालत की। व्यापक राजनीति–सिद्धांत ने विभन्न संवैधानिक रूपों के मूल्य निरूपण का काम हाथ में लिया जिससे परिस्थितियों के एक वर्ग विशेष हेतु सर्वाधिक उपयुक्त रूप निश्चित कर सकें और यदि कोई हो। यथासंभव सर्वथा सर्वोत्तम रूप तय कर सके।

7) व्यापक राजनीति–सिद्धांत ने, आदर्श रूप में राजतंत्र के सर्वोत्तम रूप को उभारते हुए, व्यापक सैद्धांतीकरण की निर्भीकता और आमूल परिवर्तनवाद को उजागर किया। हालांकि कुल लोगों ने इस प्रकार के प्रयास को मात्र कल्पना लोकी और अवास्तविक करार देकर खारिज कर दिया।

2.4.2 आधुनिक राजनीति–सिद्धांत

आधुनिक राजनीति–सिद्धांत अपने अन्दर विविध प्रवृत्तियों का एक जमघट लगाए रखता है, जैसे कि सांस्थानिक–प्राधारिक, वैज्ञानिक, प्रत्यक्षवाद सम्बन्धी, आनुभविक, व्यावहारिक, व्यवहारोत्तर एवं मार्क्सवादी। बीसवीं शती के वृहत्तर भाग पर ये प्रवृत्तियां हावी थी। व्यापक राजनीति–सिद्धांत, आमतौर पर, मीमांसात्मक, नियामक, आदर्शवादी था और काफी हद तक, ऐतिहासिक; आधुनिक राजनीति–सिद्धांत को, दूसरी ओर दो परस्पर–विरोधी वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक ओर उदारवादी जिसमें व्यक्तिवादी, संभ्रांत वर्गवादी व बहुवादी आते हैं तथा दूसरी ओर मार्क्सवादी, जिसमें द्वंद्वात्मक–भौतिकवादी अथवा अन्य शामिल हैं।

आधुनिक राजनीति–सिद्धांत ने, 15वीं–16वीं शताब्दियों से उदारवादी दृष्टिकोण से प्रारम्भ कर और बाद में स्वयं को सांस्थानिक–प्रत्यक्षवादी, आनुभाविक–व्यावहारिक व व्यवहारोत्तर प्रवृत्तियों में अभव्यक्त करते हुए, सम्पूर्ण व्यापक परम्परा को निष्प्रभ बताया। उनके पक्षधर, मैरियम व की से लेकर डाल, कैसवैल व ईस्टन तक, 'भूत' की बजाय 'वर्तमान' पर; 'निष्प्रभ' की बजाय 'जीवित', 'दूरस्थ' की बजाय 'निकटस्थ', 'आत्मनिष्ठ की बजाय 'वस्तुनिष्ठ', 'मिमांसात्मक' की बजाय 'विश्लेषणात्मक', 'वर्णनात्मक' की बजाय 'व्याख्यात्मक', 'प्रयोजन–मूलक' की बजाय 'प्रक्रिया–मूलक', 'सैद्धांतिक' की बजाय 'वैज्ञानिक' पर जोर देने का प्रयास करते थे। अपने पश्चिमी उदारवादी–लोकतांत्रिक आभास वाले आधुनिक राजनीति–सिद्धांत ने राजनीति का एक विज्ञान बनाने का प्रयास किया, वस्तुनिष्ठ, आनुभाविक, प्रेक्षणीय, परिमेय संक्रियात्मक तथा मूल्य–मुक्त। इसके अभिलक्षण निम्न प्रकार से सारबद्ध किए जा सकते हैं:

1) तथ्य व आंकड़े अध्ययन हेतु आधार तैयार करते हैं। ये संचित किए जाते हैं, स्पष्ट किए जाते हैं और तब प्राक्कल्पना परीक्षण हेतु प्रयोग किए जाते हैं।

2) मानव व्यवहारों का अध्ययन किया जा सकता है और मानव व्यवहार की नियमितताएं सामान्यीकरण में अभिव्यक्त की जा सकती हैं।

3) आत्मनिष्ठता वस्तुनिष्ठता का; मीमांसात्मक निर्वचन विश्लेषणात्मक व्याख्या का; प्रक्रिया प्रयोजन का; प्रेक्षणात्मक वर्णनात्मक का; और वैज्ञानिक नियामक का मार्ग प्रशस्त करता है।

4) तथ्यों व मूल्यों को अलग किया जाता है; मूल्यों को इस प्रश्न व्यवस्थित किया जाता है कि तथ्य प्रासंगिक हो जाएं।

5) इसका आधारीकरणवाद के सभी रूपों की आलोचना के रूप में समर्थन किया गया है, चाहे पश्च–आधुनिकतावादी हों या उदारवादी त्राता। यह, यथानुसार अपने आप को मनुष्यों के बीच संलाप और संवाद हेतु एक उद्‌दीपक के रूप में प्रस्तुत करता है।

6) इसकी सैद्धांतिक अर्थशास्त्र, बुद्धिवादी विकल्प सिद्धांत व नीति सिद्धांत द्वारा प्रभावित व्यवस्थापक आदर्श निर्माण के एक रूप में विशद व्याख्या की गई है, इसका लक्ष्य है राजनीतिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट और निश्चित प्रतिरूपों का निर्माण करना।

7) इसको राजनीति–विज्ञान के शिक्षण के सैद्धांतिक उद्यम के रूप में विकसित किया गया है। इस प्रकार यह प्रेक्षण व शिष्ट आनुभविक सामान्यीकरण के आधार पर सिद्धांत को रचने का प्रयास करता है।

समकालीन राजनीति–सिद्धांत मुख्यतः व्याख्या, अन्वेषण से और अन्तोगत्वा, उसके बोध से सम्बन्धित है जो राजनीति : संकल्पनाओं, सिद्धांतों व संस्थाओं से सम्बन्ध रखता है। ब्रिान बैरी (पॉलिटिकल आर्ग्युमेण्ट, 1965) का कहना है कि राजनीति–सिद्धांत ''सिद्धांतों व संस्थाओं के बीच सम्बन्ध का अध्ययन'' करने का प्रयास करता है। जॉन रौल्स (ए थिअरी ऑफ जस्टिस, 1971) का विचार है कि राजनीति–सिद्धांत वैज्ञानिक–आनुभविक तरीकों के साथ–साथ सत्य को भी तलाश सकता है। रॉबर्ट नॉजिक (ऐनर्कि, स्टेट एण्ड यूटोपिअ, 1974) का विश्वास है कि समकालीन राजनीति–सिद्धांत व्यापक साध्यों को आनुभविक साधनों से जोड़कर अनेक राजनीतिक समस्याओं को हल कर सकता है। सर्वसम्मति, उदाहरण के लिए (जॉन प्लैमेनात्ज, डिमोक्रेसील एण्ड इलूजन, 1973) यह है कि एक तार्किक व नैतिक लक्षण के अनुभाविक विश्लेषण व प्रकटन राजनीति–सिद्धांत में यह अस्तित्व रख सकते हैं।

डैविड हैल्ड यह कहते हुए सार प्रस्तुत करते हैं कि समकालीन राजनीति–सिद्धांत हैः ''प्रथम, मीमांसात्मक सम्बद्ध, सर्वोपरि, संकल्पनात्मक और नियामक के साथ, द्वितीय, आनुभाविक–विश्लेषणात्मक सम्बद्ध, सर्वोपरि बोध व व्याख्या की समस्याओं के साथ; तृतीय, सामरिक–सम्बद्ध, सर्वोपरि, हम जहां हैं से हम जहां होना पसंद करेंगे की ओर गमन की साध्यता–निर्धारण के साथ। इनमें जोड़ना होगा, ऐतिहासिक, राजनीतिक कथन के बदलते अर्थ की जांच उसके मुख्य प्रत्यय, सिद्धांत व महत्त्व समयोपरि।''

2.5 राजनीति–सिद्धांत का अध्ययन क्यों करे?

राजनीति–सिद्धांत कोई सरल व सहज उद्यम नहीं है। यह राजनीति की एक बेहतर दुनिया बनाने पर अभिलक्षित, एक विशद व सुसंगत अभ्यास है। राजनीति–सिद्धांत में दर्शन व विज्ञान को कोई विशेषाधिकृत संज्ञानात्मक पद प्राप्त नहीं है। सम्पूर्ण राजनीति–दर्शन राजनीतिक संसार के संचालन के बारे में दावे करता है पूछताछ के प्रतिमान के भीतर विस्तृत जांच की दरकार वाले वे अधिकार जो उनकी पहुंच से बाहर हैं जो सिर्फ दर्शन हेतु उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण राजनीति–विज्ञान उन नियामक प्रश्नों को उठाता है जिनका नियामक–व्याख्यात्मक के प्रति कोई समर्पण–भावना निराकरण नहीं करती है। राजनीति–सिद्धांत के लिए आवश्यक हैं संकल्पनाओं व सिद्धांतों का दर्शनात्मक विश्लेषण और राजनीतिक प्रक्रियाओं व प्राधारों की आनुभाविक समझ। न तो दर्शन न ही विज्ञान, अपनी वैयक्तिक क्षमता में, राजनीति–सिद्धांत के प्रकटन में एक–दूसरे का स्थान सहज ही ले सकते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि राजनीतिक जीवन की बानगियों के बारे में सामान्यीकरण निहित सुव्यवस्थित राजनीतिक जानकारी सम्भव है और उसे प्राप्त करने सम्बन्धी प्रयास ही राजनीति–सिद्धांत के मुख्य कार्य हैं, प्रत्युत होने चाहिए।

राजनीति–सिद्धांत एक शास्त्र विद्या से कहीं अधिक है; यह एक प्रज्ञात्मक अभ्यास है जैसे कि एक कार्यकलाप भी होता है। इसकी आवश्यकता एक दर्शन के रूप में ठीक वैसे ही होती है जैसे एक विज्ञान की। जर्मिनों ने उचित ही लिखा हैः ''विकृतियों, अति–सरलीकरण, नारेबाजी व जनोत्तेजना कार्य के मुंह फेर कर, राजनीति–सिद्धांती मनुष्य और समाज में उसके अस्तित्व के सामने खड़ी चिरस्थायी समस्याओं पर ईमानदारी के साथ स्पष्ट बोलता है। राजनीति–सिद्धांत एक दर्शन के रूप में हर परिस्थिति में सत्य को खोजने का प्रयास करेगा और एक विज्ञान के रूप में, सत्य तक पहुंचेगा। प्लैमेनात्ज दृष्टिकोण रखते हैं कि राजनीति–सिद्धांत अतिकल्पना अथवा पूर्वाग्रहों का प्रदर्शन नहीं है, न ही कोई प्रज्ञात्मक क्रीड़ा है। तथापि यह थोड़ा ''कुछ–कुछ भाषा विषयक विश्लेषण है'', बल्कि ''एक विशद, यथार्थ, दुष्कर व सुयोग्य व्याख्या है'', और ''उतना ही आवश्यक है जितना कि कोई भी विज्ञान।''

2.5.1 राजनीति–सिद्धांत के समक्ष कार्य

राजनीति–सिद्धांत के सामने निर्णायक कार्य होते हैं। एक विज्ञान के रूप में, डैविड हैल्ड स्पष्ट करते हैं, उसके निम्नलिखित प्रकार्य हैंः

1) ''महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तियों को पहचानना और उनके परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या करना। इसको सुनिश्चित करने के लिए एक विश्लेषणात्मक योजना आवश्यक है। यह अनुसंधान को सार्थक बनाएगा और सामान्यीकरणों की ओर प्रवृत्त तथ्यों को व्यवस्थित करेगा।

2) किसी सैद्धांतिक ढांचे पर, क्षेत्र में श्रमिकों का अस्तित्व तथा व्यापक स्वीकरण व उनके द्वारा सर्वसम्मति विभिन्न अनुसंधानों के परिणामों की तुलना किए जाने में उन्हें समर्थ करेंगे। यह पूर्व अनुसंधानों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को प्रमाणित करने में मदद करेगा और यह अनुसंधान के उन क्षेत्रों को भी उजागर कर सकता है जिन्हें आनुभविक कार्य की आवश्यकता है।

3) अन्ततः एक सैद्धांतिक ढांचे की विद्यमानता अथवा कम से कम, संकल्पनाओं का एक अपेक्षाकृत सुसंगत विकाय, अनुसंधान को अधिक भरोसेमंद बनाते हुए।''

एक दर्शन के रूप में राजनीति–सिद्धांत को विज्ञान की पहुंच से परे जाना पड़ता है। एक विज्ञान एक दृश्यघटना के रूप में इसको अध्ययन करना पड़ता है, परन्तु एक दर्शन के रूप में इसको दृश्यघटना समझनी पड़ती है। इसको समष्टि के साथ–साथ एक अवयव का अध्ययन करना पड़ता है। इसका अध्ययन वर्तमान को स्पष्टतः जानने तक सीमित नहीं है वरन् इसको अपना क्षेत्र मसलन यह जानने के लिए विस्तीर्ण करना पड़ता है कि वर्तमान किसके लिए विद्यमान है। तदनुसार, राजनीति–सिद्धांत को यथापूर्व स्थिति के अध्ययन से ऊपर उठना पड़ता है; इसको वर्तमान से परे जाना पड़ता है भविष्य के क्षेत्र में गहरे।

राजनीति–सिद्धांत के सामने कम विशाल और पार्थक्यसूचक हैं। इनमें से कुछ हैं:

1) रौल्स के पक्ष में, राजनीति–सिद्धांत को नीति दर्शन की एक शाखा के रूप में अनिवार्यतः नियामक बताया गया। तदनुसार, राजनीति–सिद्धांत का कार्य सिर्फ सामाजिक प्राधार के मूल्यांकन हेतु सामान्य नियम विकसित करना ही नहीं है, बल्कि उचित संस्थाओं, कार्यविधियों व नीतियों की रूपरेखा प्रस्तुत करना भी हैं (देखें ऐकरमैन, सोशल जस्टिस इन द लिबरल स्टेट, 1980; बैरी, ए ट्रीटाइज ऑन सोशल जस्टिस, 1989; तथा बीट्ज, पॉलिटिकल थिअरी एण्ड इण्टरनैशनल रिलेशन्ज, 1979)।

2) राजनीति–सिद्धांत मुख्य तौर पर चिन्तनशील और आमतौर पर मानव के अस्तित्व को समझने से जुड़ी एक विचारशील जांच है।

   जिस किसी प्रकार भी समझा जाए राजनीति–सिद्धांत न तो नीति दर्शन की कोई शाखा है न ही अपने रूझान में नियामक (देखें टेलॅर, फिलॅसाफिकल पेपर्स, 1985; मैकइनटायर, आटर वरच्यू, 1981; कॅनाली, पालिटिकल थिअरी एण्ड मार्डनिटी, 1988)।

3) राजनीति–सिद्धांत मुख्य रूप से एक समुदाय विशेष के स्वयं–बोध को व्यक्त करने से सम्बन्धित है तथा इस प्रकार यह अनिवार्यतः अपने कार्यक्षेत्र में नगरीय और दिक्विन्यास में व्याख्यात्मक है (देखें वाल्जर, स्फिअर्ज ऑफ जस्टिस, 1983)।

4) राजनीति–सिद्धांत को प्रायोगिक, अन्वेषी, संवादात्मक, उदारमति, व्यंग्यात्मक व सुग्राही होना जरूरी है (देखें रॉस्टी, कण्टिन्जन्सि, आइरनि एण्ड सॉलिडैरिटि, 1989)।

2.5.2 राजनीति–सिद्धांत का महत्त्व

राजनीति–सिद्धांत के महत्त्व को विद्वानों द्वारा अविश्वास के साथ देखा गया है जिनमें अधिकांश व्यवहारवादी विचार पद्धति के हैं। जॉन प्लैमेनात्ज, 'दि ईज ऑफ पालिटिकल थिअरी' नामक अपने निबंध में सहमत नहीं है। चूंकि वह लिखते हैं : ''राजनीति–दर्शन (यहां राजनीति–सिद्धांत के अर्थ में) मर चुकी है, मैंने लोगों को कहते सुना है उन तर्कमूलक प्रत्यक्षवादियों व उनके उत्तरवादियों द्वारा मारा गया जो दिखा चुके हैं कि इन समस्याओं में से कई जो अतीत के महान् राजनीतिक विचारकों को चिन्ता में डालती हैं, दृष्टि–संभ्रमों व भाषा के दुरूपयोग पर आधारित मिथ्या है''। उनके अनुसार, राजनीति–सिद्धांत के अपने प्रयोजन हैं जो निम्नलिखित रूप में कहे जा सकते हैं:

1) राजनीति–सिद्धांत एक गंभीर व जटिल प्रज्ञात्मक कार्यकलाप है और इस प्रकार के व्यवहार हेतु आवश्यकता, आधुनिक युग में, वस्तुतः कहीं अधिक है;

2) यह मूल्यों, मानदण्डों व लक्षें का एक अध्ययन है यद्यपि यह ठीक वैसी जानकारी प्रस्तुत नहीं करता जैसी कि आनुभविक राजनीति–सिद्धांत करता है;

3) यह उन सिद्धांतों का एक अध्ययन है जिन्हों ऐतिहासिक रूप से, सशक्त रूप से मनुष्य की स्वयं की व समाज की छवियों को प्रभावित किया है और उनके सामाजिक व राजनीतिक व्यवहार को गंभीरता से निर्धारित किया है।

4) इसमें सामाजिक रूप से अनुकूलित विचारधारा का एक तत्त्व है। यह विचारधारा एक दृष्टिभ्रम हो सकती है और फिर जब तक कि मनुष्य को ये दृष्टिभ्रम न होते सामाजिक विकास का पथ वो न होता जो है; तथा

5) यह राजनीति–सिद्धांतों की एक संसक्त व्यवस्था बनाता है जो हमें एक उचित राजनीतिक कार्यवाही हेतु मार्गदर्शन कर सकता है। इसमें राजनीति–सिद्धांतीं, जैसे कि प्लैमेनात्ज कहते हैं, ''निष्कपट दुकानदारों की भांति विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उन सबका ठीक–ठीक वर्णन करते हुए और यह ग्राहक पर छोड़ते हुए कि उसे सबसे अच्छा क्या लगता है, प्रदर्शित करता है। वे सिद्धांतों का एक तारतम्य पैदा करते हैं और यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य अपने विकल्पों को चुनने के लिए उनका किस प्रकार प्रयोग करें... वे विचरों के मात्र रसद–दारोगा नहीं है; वही उपदेशक व प्रचारक हैं।''

सी. राइट मिल्ज (द मार्क्सिस्टस्, 1962) लिखते हैं, ''राजनीतिक मीमांसाएं प्रज्ञात्मक व नैतिक रचनाएं हैं उनमें उच्च विचार, सरल आदर्श वाक्य, संदिग्ध तथ्य, अपक्व प्रयार व परिष्कृत सिद्धांत शामिल हैं।'' वह राजनीति–सिद्धांत के महत्त्व की यह कहते हुए व्याख्या करते हैंः

1) ''प्रथमतः यह स्वयं ही एक सामाजिक सच्चाई है। यह इस लिहाज से एक विचारधारा है कि कुछ संस्थाएं व प्रथाएं सही ठहराई जाती हैं तथा अन्य पर आक्षेप लगाया जाता है। यह शब्द प्रयोग शैलियां प्रदान करता है जिसमें मांगे उठाई जाती हैं, आलोचनाएं की जाती हैं, परामर्श दिए जाते हैं, घोषणाएं सूत्रबद्ध की जाती हैं और यदाकदा, नीतियां निर्धारित की जाती हैं।

2) दूसरे, यह एक आचार नियमावली आदर्श है जो सामान्यतः व कृत्रिमता के विभिन्न स्तरों पर मनुष्य, घटनाओं व आन्दोलनों की परखने में और आकांक्षाओं व नीतियों हेतु लक्ष्यों व दिशा निर्देशों के रूप में प्रयोग की जाती हैं।

3) तीसरे, यह कर्म के, सुधार, क्रांति व परिरक्षण के साधनों के अभिलक्षणों को नामोदृष्टि करता है। इसमें वे रणीनीतियां व कार्यक्रम शामिल हैं जो साध्यों व साधनों दोनों को प्रस्तुतः करते हैं। संक्षिप्ततः यह उन ऐतिहासिक स्तरों को अभिहित करता है जिनके द्वारा आदर्शों पर विजय प्राप्त करनी होती है अथवा उन्हें जीत लेने के बाद कायम रखना होता है।

4) चौथे, इसमें मनुष्य, समाज व इतिहास के सिद्धांत सम्मिलित हैं अथवा कम से कम इस बारे में कल्पनाएं कि इनसे मिलकर समाज कैसे बना है और यह कैसे कार्य करता है। यह बताता है वह किस प्रकार ढूंढे कि हम कहां खड़े हैं और कहां हम सम्भवतः हा रहे हैं?''

राजनीति–सिद्धांत उस संसार को पूरी तरह समझने पर अभिलक्षित है जिसमें यह जन्म लेता है। यह इसके मुख्य लक्षण को पहचानने, इसके संकट को समझने का प्रयास करता है तथा उस संकट का समाधान करने हेतु इसकी क्षमता का निर्धारण करता है। राजनीति–सिद्धांत मनुष्य को स्वयं को और स्वयं के बाद, उसके राजतंत्र व उसके इतिहास को समझने की क्षमता में योगदान देता है। यह मनुष्य को अपने निजी सामान्य कामों का नियंत्रण अपने हाथ में लेने को प्रेरित करता है। संक्षेप, यह स्पष्ट करता है, समझता है, समझाता है, मूल्यांकन करता है, जानकारी देता है और अदल–बदल करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राजनीति–सिद्धांत उच्चतम राजनीतिक व्यवस्था का एक आदर्श खड़ा करता है, विधिवत् संचयन हेतु एक मार्गदर्शक के रूप में काम करता है और राजनीतिक आंकड़ों का एक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। एक विज्ञान के रूप में, राजनीति–सिद्धांत राजनीतिक यथार्थता की व्याख्या उस बात पर निर्णय लेने की चेष्टा किए बर्गर करता है जिसका वर्णन किया जा रहा है। एक दर्शन के रूप में यह उन आचार–नियमों की व्याख्या करता है जो सभी के लिए उत्तम जीवन सुनिश्चित करने में मदद करते हैं।

2.6 सारांश

राजनीति–सिद्धांत एक परिकल्पना है जो कि जो भी 'राजनीतिक' है से जुड़ा है, यानि किसी ऐसी चीज का दर्शन व विज्ञान जो 'राजनीतिक' है। सैबाइन, मोटे तौर पर राजनीति–सिद्धांत को राजनीति के विषय में अथवा राजनीति से सम्बद्ध कुछ भी के रूप में परिभाषित करते हैं। राजनीति–सिद्धांत की एक अधिक विस्तीर्ण परिभाषा ब्लूहैन द्वारा दी गई है। वह कहते हैं, ''... राजनीति–सिद्धांत इस बात की एक व्याख्या है कि राजनीति समग्रतः क्या है, राजनीति जगत की आम समझ, एक आचार–विचार सम्बन्धी मानक। इसके बगैर हमें घटना को मान्यता नहीं देनी चाहिए। यह क्यों हुई का निर्णन नहीं करना चाहिए। यह अच्छी थी या बुरी का फैसला नहीं करना चाहिए। आगे क्या होने वाला था का निश्चय नहीं करना चाहिए. .. ।''

राजनीति–सिद्धांत इतिहास है जहां कि यह तथ्यों पर आधारित है; यह दर्शन है जहां तक कि यह दृश्यघटना का मूल्यांकन करता है; यह विज्ञान है जहां तक कि यह चीजों की व्याख्या वैज्ञानिक रूप से करता है।

राजनीति–सिद्धांत अपने नियमक अतीत से अपने वैज्ञानिक वर्तमान तक विकसित हुआ है। यह भविष्य में इतिहास, दर्शन व विज्ञान तथा मानकीवाद व अनुभववाद का एक संयोजन बनने की ओर अग्रसर है।

राजनीति–सिद्धांत सिर्फ एक दृष्टिभ्रम नहीं है; यह निष्प्राण नहीं है। इसकी प्रासंगिक इसके एक व्यावहारिक कार्यकलाप होने में है। यह न सिर्फ आदमी, समाज अथवा इतिहास की परिकल्पना प्रस्तुत करता है बल्कि हमें कर्म का एक सिद्धांत भी देता है– सुधार, क्रांति अथवा परिरचण।

2.7 अभ्यास

1. 'सिद्धांत' शब्द से क्या तात्पर्य है?
2. राजनीति–सिद्धांत क्या है?
3. आपकी राय में राजनीति–सिद्धांत की विषयवस्तु क्या होनी चाहिए?
4. राजनीति–सिद्धांत, राजनीति–दर्शन और राजनीति–विज्ञान के बीच अंतर स्पष्ट करें।
5. क्या आप इतिहास के बिना राजनीति–सिद्धांत को समझ सकते हैं?
6. राजनीति–सिद्धांत दर्शनशास्त्र व विज्ञान की विषयवस्तु को कैसे संसाधित करता है?
7. व्यापक राजनीति–सिद्धांत की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करें।
8. आधुनिक राजनीति–सिद्धांत के मुख्य अभिलक्षणों को स्पष्ट करें।
9. उन विस्तृत विषयवस्तुओं को संक्षेप में बताएं, जिनसे समकालीन राजनीति–सिद्धांत सम्बद्ध है।
10. आपकी राय में राजनीति–सिद्धांत के सामने मुख्य काम क्या हैं?
11. राजनीति–सिद्धांत के महत्त्व का संक्षिप्त में वर्णन करें।

*****

अध्याय – 3
स्वतंत्रता

अध्याय की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 नकारात्मक स्वतंत्रता

3.3 सकारात्मक स्वतंत्रता

3.4 स्वतंत्रता पर सामयिक बहस

3.5 सारांश

3.6 अभ्यास

3.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रता की संकल्पना तीन शब्दों के बीच सम्बन्ध जोड़ती हैः यह किसी 'एक्स' व्यष्टि की, किसी 'ए' बाधा से मुक्ति की ओर इशारा करती है। ताकि वह 'बी' कर सके। दूसरे शब्दों में कुमारी 'एक्स' 'ए' द्वारा 'बी' करने से नहीं रोकी जाती हैं अथवा निग्रह 'ए' की अनुपस्थिति में कुमारी 'एक्स' 'बी' करने को स्वतंत्रता हैं। जैराल्ड मैककैलम जिसने स्वतंत्रता के अर्थ की हमारे समक्ष यह समझ प्रस्तुत की, ने तर्क दिया कि स्वतंत्रता के विश्लेषकों को नकारात्मक स्वतंत्रता के अथवा सकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधरों में विभाजित करने की इच्छा रखना युक्तिसंगत है। क्योंकि स्वतंत्रता के सभी सिद्धांतियों ने इन्हीं तीन शर्तों का प्रयोग किया (मैककैलम, 1967)। हमें, हालांकि लगता है कि स्वतंत्रता की संकल्पनाओं में 'ए' और 'बी' पर दिए जाने वाले तुलनात्मक बलाघात के माध्यम से अब भी अंतर किया जा सकता है। स्वतंत्रता की नकारात्मक संकल्पनाएं एक अनिश्चित समूह का संकेत करने के लिए 'बी' का प्रयोग करती हैं (कुछ भी न करने की क्रिया से आरम्भ कर), जबकि वे 'ए' का प्रयोग एक काफी सीमित समूह हेतु करते हैं, कभी–कभी निग्रहों के रूप में सिर्फ इरादतन थोपे गए भौतिक अवरोधों के गिनकर और निग्रहों के समूह में शामिल किए जाने वाले अधिक बारंबार नियमों को स्वीकार करके। सकारात्मक स्वतंत्रता सिद्धांतवादी उल्टा करते हैंः वे प्रत्येक कार्यवाही को 'बी' के तहत स्वीकार नहीं करते हैं– स्वयं को दास रूप में बेच देना स्वतंत्रता नहीं है– जबकि निग्रहों वाला उनका समूह इतने विस्तार से परिभाषित किया जाता है कि न सिर्फ भौतिक अवरोध व नियम ही बल्कि क्षमताएं भी शामिल हों, या तो सामग्री अथवा मानसिक संसाधनों के अभाव के रूप में।

चलिए, इससे पहले कि हम स्वतंत्रता की इन दो विशिष्ट संकल्पनाओं को और विस्तार में देखें। स्वतंत्रता की संकल्पना के विषय में कुछ सामान्य अवलोकन करें। कुछ समय पूर्व खासकर आलोचक सिद्धांतियों के बीच इस बात पर व्यापक निराशा थी कि स्वतंत्रता अपना वायदा निभाने में असमर्थ रही थी। स्वतंत्रता मूल्य की चर्चाओं का बचाव अक्सर वारणियों व चेतावनियों के सहारे किया जाता था। यह तर्क देने के लिए कि पूरे मानव इतिहास में कुछ की स्वतंत्रता को अनेक की प्रधानता की आवश्यकता पड़ी थी। कुछ लेखकों ने मार्क्सवादी आलोचना को आगे बढ़ाया कि पूंजीवादियों की स्वतंत्रता कामगार वर्ग की स्वतंत्रता के अभाव पर निर्भर है। पुरुष यूनानी व अमेरिकी नागरिकों की स्वतंत्रता दासों की स्वतंत्रता का ही अभाव थी। पुरुषों की स्वतंत्रता महिलाओं की प्रधानता पर आधारित है और धनी उत्तरी राष्ट्रों के अधिवासी–समूहों द्वारा उपभोग की जाने वाली स्वतंत्रताएं निर्धन दक्षिणी राष्ट्रों पर उनके नियंत्रण से ही परिणत होती हैं। यह ऐतिहासिक साक्ष्य एक आम सिद्धांत को जन्म देता है कि ''कुछ की आजादी दूसरों की निर्भरता को आवश्यक के साथ–साथ लाभदायक भी बना देती है जबकि एक भाग की अस्वतंत्रता किसी दूसरे की स्वतंत्रता को संभव बनाती है।'' (बौमेन, जैड, 1988, पृ.19) यदि स्वतंत्रता का अर्थ दूसरों को जीतकर अधीन करने हेतु स्वतंत्र होना है तब मानो कि यह कोई नियामक मूल्य नहीं रखता है।

आलोचकों ने आधुनिक समाज की सच्चाई को छुपाते मुखौटों के रूप में विद्यमान उद्धारक परम्पराओं सम्बन्धी बढ़ते निग्रहों की एक रीति के रूप में निंदा की। आधुनिकता ने न सिर्फ अवपीड़क राज्य तंत्रों के बृहत–स्तरीय विकसन को देखा है बल्कि स्कूल व दतरशाही जैसी अनेक नियामक संस्थाएं भी उदाहरण के लिए चाहती हैं कि नागरिकगण इस तरीके से व्यवहार करें कि वह उनकी स्वतंत्रता तक नहीं वरन् उनके अधीनीकरण तक ही पहुंचे। आधुनिकता के बुद्धिजीवियों ने इस छुपी प्रधानता पर सत्याभासी व्याख्या करते हुए स्वतंत्रता की संकल्पनाएं प्रयोग करने की भूल की। (देखें फूको, डिसिप्लिन एण्ड पनिश)।

अन्ततः कुछ नारी–अधिकारवादियों ने स्वतंत्रता की प्रचलित परिकल्पनाओं पर प्रहार किया कि वे एक पुरुष जातीय पूर्वाग्रह से सवंमित हैं और इसी कारण महिलाओं की स्वतंत्रता को विस्तार दिए जाने के लिहाज से संदेहास्पद हैं। स्वतंत्रता को अब तक उनका तर्क है महज पुरुष अनुभव व परिस्थितियों के आधार पर ही संकल्पना में ढाला जाता रहा है। स्वतंत्रता की इस संकल्पना को स्वीकार कर लेने का अर्थ है महिलाओं की गतिविधियों के एक बड़े हिस्से को अनदेखा करना और इसलिए इस संकल्पना को महिलाओं हेतु प्रयोग में लाना उनके हित में नहीं हो सकता है। यह कहा भी गया है कि स्वतंत्रता–मूल्य पर संकेन्द्रण के महिला–विरोधी निहितार्थ हो सकते हैंः निग्रहों के अभाव के रूप परिभाषित स्वतंत्रता को ''मानवता के प्रमाण–चिह्न के रूप में देखना महिलाओं की गैर–मानवीय स्थिति का दावा किए जाने का एक और साधन प्रदान करता है।'' (एन.जे. हिर्षमान, 1989, पृ. 1236)

स्वतंत्रता विषयक ये संदेह वस्तुतः उसके परित्यजन में परिणत नहीं हुए। यह स्पष्ट है कि आज पूरे विश्वभर में विरोध आन्दोलन स्वतंत्रता के नाम पर अपने संघर्षों को जारी रखे हैं और यही दमन के खिलाफ अनेक आन्दोलनों के पीछे प्रेरणा बनी हुई है। तब सिद्धांतियों हेतु नियत काम है। स्वतंत्रता की ओर अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग स्वतंत्रता का ऐसा एक संकेतार्थ निकालकर देना कि जो पहले वाली आपत्तियों में से प्रत्येक का सामना कर सके कि कुछ की स्वतंत्रता को हमेशा दूसरों की स्वतंत्रता के अभाव की अपेक्षा होती है कि आधुनिकता, कपटपूर्ण तरीकों से हर किसी को कम स्वतंत्र कर देती है और कि स्वतंत्रता की प्रचलित संकल्पनाएं दोनों लिंगों पर बिल्कुल भी प्रयोज्य नहीं हो सकती। इस बात पर गौर करना दिलचस्प होगा कि स्वतंत्रता की एक उपयुक्त संकल्पना हेतु खोज अब उन दोनों ही शिविरों नकारात्मक एवं सकारात्मक स्वतंत्रता में से किसी एक में भी शामिल होकर नहीं कराई जा सकती है जिनमें कि स्वतंत्रता समर्थक परम्परागत रूप से बंटे रहे हैं। हुआ यह कि स्व–निर्णय वाले अपने मर्म विचार को स्वीकार कर लेने के बाद स्वतंत्रता पर चर्चाएं तब सामान्यतः स्वतंत्रता की नकारात्मक व सकारात्मक संकल्पनाओं की परिभाषा व तुलना करती और किसी एक अथवा स्वतंत्रता–सिद्धांत की किसी सापेक्ष व्याख्या के रक्षार्थ खड़ी होती। नवीन चर्चाएं, दूसरी ओर, यथार्थतः आंतरिक ढांचों व स्वतंत्रता की दोनों ही संकल्पनाओं के संदेहास्पद होने पर सवाल करने के प्रयास में रहती हैं और इन दोनों ही के स्थान पर स्वतंत्रता की कोई अन्य संकल्पना लाना चाहती हैं।

नकारात्मक–स्वतंत्रता सिद्धांत का उदाहरण के लिए उसके आरम्भ–बिंदु प्रदत्त इच्छाओं व वरीयताओं वाली एक व्यक्ति के आधार पर आलोचना की गई है। स्वतंत्रता को किसी व्यक्ति की सम्भावित वरीयताओं के परिपालन में गैर–दखलंदाजी के रूप में परिभाषित करते हुए यह परिकल्पना इस बात को नहीं मान पाती है कि स्व–निर्णय के रूप में स्वतंत्रता की धारण को इस परीक्षण की अपेक्षा है कि दी गई विद्यमान सामाजिक परिस्थितियों में क्या इन वरीयताओं की रचना स्वायत्त हो अथवा नहीं। एक स्वतंत्रता–सिद्धांत में इस प्रकार की परिस्थितियों का एक विश्लेषण न सिर्फ भौतिक व विधिसंगत हस्तक्षेप के अभाव के लिहाज से हो, बल्कि स्वायत्त रूप से पैदा हुई इच्छाओं व वरीयताओं को सम्भव बनाने के लिए भी हो।

स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना, यह माना जाता है कि व्यक्तियों को प्रदत्त इच्छाओं के सहारे नहीं मानकर चलती और स्वतंत्रता को महज गैर–दखलंदाजी से भी परे देखने का प्रयास करती है। चूंकि यह स्वतंत्रता को स्व–प्रदत्त विवेकपूर्ण नियमों का पालन करने के रूप में परिभाषित करती है। यह एक व्यक्ति के स्वत्व की रचना–प्रक्रिया का विश्लेषण करती है जो स्व–निर्णय के रूप में उस व्यक्ति की स्वतंत्रता का आधार बन जाती है। इसके अतिरिक्त यह स्व–निर्णयन हेतु भौतिक व कानूनी बाधाओं के अभाव से ऊपर व परे बाह्य संसाधनों की उपलब्धता की जरूरत को भी पहचानती है।

इस संकल्पना में इसके बावजूद कमी पाई गई है। क्योंकि स्वायत्त स्वत्व निर्माण का प्रतिपादन करना अथवा स्वायत्त वरीयताएं और व्यक्ति के किसी कर्म रूप में प्रयोजन, ''किसी भी सामाजिक प्रसंग से पूर्णतः स्वतंत्र किसी काम'' के रूप में सामाजिक परिस्थितियों के साथ किसी सम्बन्ध को युक्तिसंगत नहीं ठहराते। (पी. पैटॉन, 1989, पृ. 263) इसको निश्चित रूप से कैन्ट जैसे किसी सकारात्मक–स्वतंत्रता सिद्धांती की परिकल्पना बताया जा सकता है।

उपर्युक्त दो पारम्परिक रूप से प्रबल मुक्ति संकल्पनाओं से असंतुष्ट, स्वतंत्रता सिद्धांती आज स्वतंत्रता की कुछ निश्चित निर्णायक सामाजिक परिस्थितियां प्रतिपादित करने हेतु संघर्ष कर रहे हैं। स्वतंत्रता की ये सामाजिक परिस्थितियां भौतिक व कानूनी विघ्नों से जीवन के कुछ निश्चित क्षेत्रों के सार्वजनिक रूप से आश्वासित संरक्षण और व्यक्तियों हेतु आय, शिक्षा व स्वास्थ्य जैसे संसाधनों के सामाजिक प्रावधान द्वारा निशक्त नहीं होती हैं। इसके अतिरिक्त उनमें दो अन्य प्रावधान शामिल बताए जाते हैं जिन पर प्रथम दो की अपेक्षा कम मतैक्य है। स्वतंत्रता की तीसरी सामाजिक स्थिति में व्यक्ति का उस समाज में मूल्यांकित किए जाते हुए सांस्कृतिक संदर्भ आता है जिसमें वह रहता है। यह सास्कृतिक संदर्भ उस प्रक्रिया का हिस्सा है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति स्वायत्त वरीयताएं तैयार करता है और उसका महत्त्व सांस्कृतिक अधिकारों हेतु मांग से परे निहित होता है। यथा वह इस दावे में अन्तर्निहित है कि व्यक्ति उस समाज में समान रूप से स्वतंत्र नहीं है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों का असमान रूप से मूल्यांकन किया जाता है। स्वतंत्रता की चौथी सामाजिक अवस्था है। सामूहिक स्वतंत्रता का कुछ अभिप्राय जो प्रत्येक व्यक्ति के वोट रखने की राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार से कहीं अधिक है। इस आपत्ति का सामना करने के लिए कि स्वतंत्रता का अर्थ हमेशा कुछ की दूसरों पर शासन करने की आजादी होगा। हमें इस दिशा में देखना और तर्कों को प्रकट करना पड़ता है कि कुछ की आजादी को दूसरों की आजादी पर निर्भर बनाया जाए।

3.2 नकारात्मक स्वतंत्रता

नकारात्मक स्वतंत्रता का उत्कृष्ट प्रतिवाद रहा है – 1958 में प्रथम प्रकाशित, ईसाइया बर्लिन का 'टू कॉन्सेप्टस ऑफ लिबर्टी।' बर्लिन ने 'स्वतंत्र होने' को ''दूसरों द्वारा हस्तक्षेपित न होने'' के रूप में परिभाषित किया। ''हस्तक्षेप का क्षेत्र जितना विस्तृत होगा उतनी ही विस्तृत मेरी स्वतंत्रता होगी।'' (बर्लिन, 1969 पृ. 123) यह परिभाषा द लिवाइअथॅन में 'बाह्य बाधाओं' के अभाव रूप में मुक्ति के हॉब्स के प्रस्तुतीकरण की एक उपज है। हॉब्स के अनुसार, ''एक स्वतंत्र व्यक्ति, वह है कि उन बातों में जो वह अपनी शक्ति व बुद्धिमानी से करने में सक्षम है वह जो करने की इच्छा रखता है उसे करने में अड़चन नहीं पाता है।'' (हॉब्स, 1968 पृ. 262) हॉब्स की दृष्टि में इन अड़चनों में शामिल थे सर्व–प्रधान शासक के वो कानून जो नागरिक समाज की रचना किए जाने के उपरांत सामाजिक अनुबंध द्वारा बनाया गए। क्योंकि मुक्ति 'कानून के मौन' पर निर्भर करती थी। प्राकृत अवस्था में नागरिक कानूनों का अभाव अपने निवासियों के लिए अधिक स्वतंत्रता में व्याख्यायित होना चाहिए था, परन्तु इसके नितान्त अभाव में, प्रत्येक व्यक्ति ने कर्म की दूसरे की स्वतंत्रता के प्रति एक बाहरी अड़चन के रूप में काम किया। इसके कानूनों द्वारा सर्व–प्रधान शासक ने सुनिश्चित किया कि उसके नागरिक एक दूसरे के हस्तक्षेप से मुक्त हों। यहां यह ध्यान में रखना अच्छा होगा कि हॉब्स, नकारात्मक स्वतंत्रता के सबसे पहले पक्षधरों में से एक ने किस प्रकार एक निरंकुश सर्व–प्रधान शासक के 'प्रयोजनीय' कानूनों और उसके पराधीनों की स्वतंत्रता के बीच कोई विरोधाभास नहीं देखा। यह परखने के लिए कि क्या कोई व्यक्ति स्वतंत्र है। यह जांचना असंगत होता कि क्या उन कानूनों में उसे बोलने का कोई अधिकार है जिनके तहत वह रहता है। निरंकुश सर्व–प्रधान शासक अकेले ही कानून बनाता था। जो निर्णायक था वो था क्या सर्व–प्रधान शासक ने उसके जीवन के किसी क्षेत्र को इतना विस्तृत छोड़ा जितना कि उसके कानूनों द्वारा नियमित न किए जाने पर सम्भव होता। बर्लिन भी यह कहते हैं, स्वतंत्रता अपने नकारात्मक अर्थ में ''सिद्धांततः नियंत्रण क्षेत्र से सम्बद्ध है न कि अपने स्रोत वैयक्तिक स्वतंत्रता व लोकतांत्रिक शासन के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होता। 'मुझ पर कौन शासन करता है?' प्रश्न का उत्तर 'सरकार मेरे साथ कहां तक हस्तक्षेप करती है?' प्रश्न से तार्किक रूप से भिन्न है।'' (बर्लिन, 1968 पृ. 129–130)

स्वतंत्रता की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए हॉब्स ने स्वतंत्रता और योग्यता के बीच भेद दर्शाया, ''परन्तु जब गति की बाधा वस्तु विशेष स्वयं को संघटन में हो, हम नहीं कह सकते। यह स्वतंत्रता चाहती है तिस पर गति करने की शक्ति, जिस प्रकार जब एक पत्थर स्थिर पड़ा होता है अथवा एक आदमी बीमारी द्वारा उसके बिस्तर से बंधा पड़ा होता है।'' (हॉब्स,

1968 पृ. 262) नकारात्मक स्वतंत्रता के अधिकांश व्याख्याता शक्ति अथवा योग्यता और स्वतंत्रता के बीच इस अन्तर की हां में हां मिलाते हैं। जिस विषय पर वे असहमत होते हैं वह है एक निश्चित अवस्था को योग्यता के एक अभाव रूप में कब और स्वतंत्रता के एक अभाव रूप में कम अभिलक्षित किया जाना है। पंखों के अभाव में उड़ने में समर्थ न होना, मनुष्यों के मामले में, योग्यता के अभाव का और न कि अस्वतंत्र होने का एक स्पष्ट उदाहरण है। परन्तु उस व्यक्ति के बारे में क्या जो इतना गरीब है कि वो वह चीज भी प्रदान नहीं कर सकता ''जिस पर कोई कानूनी प्रतिबंध नहीं है– एक रोटी का टुकड़ा, संसार–भर की यात्रा।'' बर्लिन का तर्क है कि पूर्वोक्त सामाजिक सिद्धांत जिसमें यह गरीबी ''अन्य मनुष्यों के इंतजामत कर चुकने'' का ही परिणाम है जिसके कारण कुछ लोगों के पास भौतिक संसाधनों का अभाव है जबकि दूसरे उनकी प्रचुरता भोगते हैं। गरीब आदमी को रोटी खरीदने में असमर्थ होने में नहीं बल्कि ऐसा करने के लिए अस्वतंत्र होने के रूप में वर्णित किया जाना चाहिए। ''दमन का मापदण्ड ही वह भूमिका है जो मैं मानता हूँ कि मेरी इच्छाओं को हतोत्साहित करने में, ऐसा करने हेतु मेरी मंशा होने अथवा न होने पर भी, प्रत्यक्ष या परोक्ष, अन्य मनुष्यों द्वारा निभायी जाती है।'' (देखें बर्लिन, 1968, पृ. 123–4) यह निश्चित रूप से हिलेल स्टीनर कृत रचना से बहुत दूर हैं। जिसके अनुसार किसी व्यक्ति के क्रियाकलाप पर साभिप्राय लगाए गए केवल भौतिक अवरोध ही उस व्यक्ति को यह दावा करने की छूट देते हैं कि वह स्वतंत्र नहीं है। हम तब देखते हैं कि इस बात की समझ नकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधरों के बीच तक भी बहुत विस्तार लिए है कि क्रियाकलाप के सम्मुख बाधाओं/अवरोधों के रूप में किसको गिनें।

नकारात्मक स्वतंत्रता का एक अन्य व्यापक प्रतिवाद था जॉन स्टूअर्ट मिल का 1859 का निबंध, ऑन लिबर्टी। यहां मिल का दृष्टिकोण संक्षिप्त में हैः ''... एकमात्र लक्ष्य जिसके लिए मानवजाति अपने किसी भी समूह के कार्यकलाप की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने हेतु वैयक्तिक रूप से अथवा सामूहिक रूप से, अधिकृत है, वह है आत्मरक्षा ... एकमात्र उद्देश्य जिसके लिए शक्ति एक सभ्य समुदाय के किसी भी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरूद्ध अधिकारपूर्वक प्रयोग की जा सकती है। दूसरों को क्षति पहुंचने से बचाना ही है। उसकी अपनी भलाई दैहिक अथवा नैतिक कोई समुचित न्यायसंगति नहीं है. .. किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का एकमात्र हिस्सा, जिसके लिए वह समाज के प्रति उत्तरदायी है वो है जो दूसरों से संसृभट होता हो। उस भाग में जो सिर्फ उसी से सम्बन्धित है उसकी स्वाधीनता वस्तुतः अप्रतिबद्ध है।'' (जे.एस. मिल, 1989, पृ.13)

इस बात पर जोर देते हुए कि क्रियाकलाप के स्वयं से सम्बन्धित होने तथा दूसरे से सम्बन्धित होने के बजाय एक सीमारेखा, हालांकि अस्पष्ट होती है मिल तर्क प्रस्तुत करते हैं कि स्वतंत्रता–सिद्धांत किसी व्यक्ति के स्वयं–सम्बद्ध क्रियाकलाप क्षेत्र में किसी भी हस्तक्षेप को बरदाश्त नहीं करता। तीन विशिष्ट क्षेत्रों – विचार और उसकी मौलिक व लिखित अभिव्यक्ति का अभिरूचि व पेशों का तथा अन्य व्यक्तियों के साथ सम्मिलन व संसर्ग का क्षेत्र पर चर्चा करते हुए मिल ने दावा किया कि दूसरों को 'सीधे भौतिक क्षति पहुंचने' से बचाने को छोड़कर समाज के पास इन क्षेत्रों में व्यक्ति विशेष की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने हेतु कोई अन्य औचित्य प्रतिपादन नहीं रहा। ''कोई भी समाज जिसमें इन स्वतंत्रताओं का समग्रतः सम्मान नहीं किया जाता। उसकी सरकार का कोई भी स्वरूप हो स्वतंत्र नहीं है और उसमें कोई भी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है जिसमें वे निर्बाध व अप्रतिबद्ध अस्तित्व नहीं रखते।'' (जे.एस. मिल, 1989, पृ. 16, 'मेरा को महत्त्व दें। ध्यान दें, मिल हॉब्सियन विचार को दोहराते हैं, जो बर्लिन द्वारा भी अपनाया गया कि लोकतंत्र स्वतंत्रता की बराबरी नहीं करता।)

मिल के अनुसार, सामाजिक सिद्धांत का उद्देश्य मानवमात्र के सुधार को बढ़ावा देना है। मिल ने दुनिया को यह दिखलाने में अपना योगदान दिया कि वैयक्तिक स्वतंत्रता इस सुधार हेतु एक अनिवार्य साधन हैः ''....सुधार का एकमात्र अचूक और स्थायी स्रोत स्वतंत्रता ही है, क्योंकि इससे सुधार के उतनी ही संख्या में स्वाधीन केन्द्र सम्भव है, जितने यहां व्यक्ति हैं।'' (जे.एस.मिल, 1989, पृ.70) मिल ने यह निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट कियाः ''बोध, विचार, विवेकी अनुभूति, मानसिक कार्यकलाप और यहां तक कि नैतिक पसंद की मानवीय क्षमता भी, केवल विकल्प चुनने में ही प्रयोग की जाती है।'' (मिल, पृ. 59) परन्तु यदि स्वतंत्रता की उपयोगिता यह हो कि वह मानवमात्र का सुधार करे किसी व्यक्ति को उन व्यक्तियों की सम्भावना का क्या करना जो हमेशा स्वयं–सम्बद्ध क्रियाकलाप के अपने क्षेत्र में अनुचित तरीकों से कर्म करना पसंद करते हैं? यह हमको सकारात्मक स्वतंत्रता की संकल्पना के समक्ष लाता है।

3.3 सकारात्मक स्वतंत्रता

यदि नकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधर इस प्रकार का कम से कम कुछ क्षेत्र बचाने की आशा करते हैं जिसमें एक व्यक्ति अपनी मजी से कुछ करने को स्वतंत्र हो, सकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधर और अधिक महत्त्वकांक्षी हैं– वे आत्म–निर्णय के इस क्षेत्र को यथासम्भव विस्तार देने की उम्मीद लगाए हैं। वे यह दो तरीकों से करते हैं; प्रथम है कर्म के अवरोधों की संकल्पना में आन्तरिक निग्रहों का समावेश। रूसों ने उदाहरण के लिए किसी की इच्छाओं अथवा आवेगों का दास होने को स्वतंत्र होने के नितान्त विपरीत रूप में देखा। हमारी इच्छाएं विषमयुग्मकी हैं। वे हममें उस परिवेश के कारण जिसमें हम रहते हैं अथवा शायद हमारे पालन–पोषण के कारण पैदा होती है। अपनी इच्छाओं से दबना, रूसो के अनुसार, प्राधारिक रूप से किसी दूसरे की इच्छाओं से हार मानने के समान ही है। हमें संज्ञानतापूर्वक और विवेकशीलता से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना पसंद करना पड़ता है। यानी, वे आवश्यकताएं जिनको हम वस्तुतः अपना निजी और अपने स्वयं का मननशील मानते हैं। 'द सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में उनके अपने ही शब्दों में, ''महज भूख का संवेग दासता है जबकि एक आत्म–विहित संहिता का पालन स्वतंत्रता है।'' (रूसो, 1967, पृ. 23)

कैन्ट का भी इसी प्रकार का तर्क था – किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता उन क्रियाकलापों में कैसे प्रमाणित की जा सकती है जो कि निर्बुद्धि स्वभाव का उन इच्छाओं को प्रेरित करते हुए जिनका वह आँख मूंदकर अनुसरण करता है, में से किसी एक को लेकर निकला परिणाम हो? इसकी बजाय, स्वतंत्र के रूप में गिनने के लिए, व्यक्ति को किसी ऐसे विवेकपूर्ण सिद्धांत के अनुसार उसकी इच्छाओं में से पसंद करना अथवा चुनना चाहिए जिसको वह स्वयं सकारता हो।

सकारात्मक स्वतंत्रता की संकल्पना में स्व–निर्णीत क्रियाकलाप के क्षेत्र को बढ़ाने का दूसरा तरीका सामूहिक निर्णय लिए जाने के लोकतांत्रिक कार्यप्रणालियों के माध्यम से है। किसी के जीवन क्षेत्र को कानूनों द्वारा अबाधित यथासंभव विस्तार दिए जाने पर इतना जोर नहीं है। परन्तु चूंकि स्वतंत्रता को यथासंभव प्रदत्त अधिकार से अलग पहचान जाता है और स्व–निर्मित कानूनों के तहत रहने के रूप में परिभाषित किया जाता है जोर यह सुनिश्चित करने पर है कि व्यक्ति को उन सभी कानूनों के बनाए जाने में बोलने का अधिकार हो जिनके तहत वह रहता है। लोकतंत्र–सम्बन्धी रूसो का तर्क प्रसिद्ध हैः ऐसा कोई सरकार का अन्य रूप नहीं है जो स्वतंत्रता के अनुरूप हो। हम स्वाधीन कैसे कहे जा सकते हैं जब तक कि हम उन नियमों को बनाने में बोलने का अधिकार नहीं रखते जो हमारे क्रियाकलापों को नियंत्रित करते हैं। यही उस नैतिक स्वतंत्रता की तुलना में, रूसो की नागरिक–स्वतंत्रता संकल्पना है जो हमें हमारी लालसाओं का दास बनने से बचाता है।

रूसो ने नैतिक व नागरिक स्वतंत्रता की अपनी संकल्पनाओं को निम्नलिखित रीति से सुसम्बद्ध कियाः उसने पाया विधान लोगों द्वारा सामूहिक रूप से तब निर्मित होता है। जब वे मस्तिष्क में (सामान्य हित) आम इच्छा द्वारा रखते हैं। इस बात के साधन रूप में कि हर व्यक्ति अपनी इच्छाओं के नियंत्रण में रहे। किसी व्यक्ति की अपनी ही कमजोर इच्छा के स्थान पर ये कानून जिनके बनाए जाने में सभी भाग लेते हैं। यह सुनिश्चित करते हैं कि व्यक्ति स्वयं द्वारा चुने गए जीवन को ही बिताए। जहां हॉब्स के उदाहरण में कानूनों की बाध्यता ने किसी व्यक्ति के क्रियाकलाप में हस्तक्षेप से दूसरों को बचाकर किसी की स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया। रूसो में सामूहिक रूप से बनाए गए कानूनों को हस्तक्षेप एक प्रकार की स्वतंत्रता बना दिया। रूसो के बाद, टी.एच. ग्रीन सकारात्मक स्वतंत्रता के एक महत्त्वपूर्ण पक्षधर हुए। 1881 के अपने निबंध में ग्रीन ने कहा : ''हम सब शायद सहमत होंगे कि स्वतंत्रता ही, सही अर्थों में, वरदानों में महानतम है कि इसकी प्राप्ति ही नागरिकों के रूप में हमारे सकल प्रयास का यथार्थ लक्ष्य है। परन्तु जब हम इस प्रकार स्वतंत्रता की बात करते हैं। हमें ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए कि हम इसका क्या अर्थ लेते हैं। हमारा आशय महज अवरोध अथवा बाध्यता से मुक्ति नहीं होता। हमारा अभिप्राय सिर्फ हम जो पसंद करते हैं पर ध्यान दिए बर्गर हम जैसा चाहे वैसा करें की आजादी नहीं होता। हमारा तात्पर्य ऐसी स्वतंत्रता से नहीं होता जो दूसरों की आजादी के नुकसान की लागत पर एक आदमी अथवा आदमियों के एक समूह द्वारा उपभोग की जा सकती है। जब हम आजादी की बात करते हैं... हमारा मतलब होता है किसी करने लायक काम को करने अथवा उपभोग्य वस्तु को उपभोग करने की क्षमता और कि कुछ ऐसा भी जो हम दूसरों के साथ सामान्यतः करते अथवा उपभोग करते हैं... सच्ची स्वतंत्रता का आदर्श ही मानव समाज के सभी सदस्यों हेतु समान रूप से उन्हें स्वयं को सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिए शक्ति की सर्वोच्च मात्रा है''... (ग्रीन, 'लिबरल लैजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम ऑफ कॉण्ट्रैक्ट', पृ. 199–200)

जे. एस. मिल तथा टी. एच. ग्रीन व्यक्तियों को 'उन्हें स्वयं को सर्वश्रेष्ठ बनाने' की छूट देने में ही स्वतंत्रता के महत्त्व को अनुभव करने में एकमत थे; तथाप वे स्वतंत्रता की परिभाषा के विषय में असहमत थे। यही वह बिन्दु है जो बारे में सोच को जन्म देता है– व्यक्तियों के लिए स्वतंत्र रहना क्यों महत्त्वपूर्ण है? क्यों स्वतंत्रता के महत्त्व पर सहमति अभी तक उसके अभिप्रायों पर भेद दर्शाता है?

3.4 स्वतंत्रता पर सामयिक बहस

अब तक नकारात्मक व सकारात्मक स्वतंत्रता समर्थकों के बीच आजादी पर पारम्परिक बहस की व्याख्या करने के बाद, आइए कुछ ऐसे सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों पर नजर डालते हैं जो इस बहस हेतु स्पर्श्य हैं। हम अब देखेंगे कि किस प्रकार नारी–अधिकारवाद स्वतंत्रता के महत्त्व से पक्के तौर पर जुड़ चुका है।

यह घोषित किया गया है कि ''स्वतंत्रता ने अपनी लम्बी यात्रा एक स्त्री के महत्त्व के रूप में पाश्चात्य संचेतना में शुरू की।'' (ओ. पैटरसन, 1991, पृ. 51) महिलाएं सर्वप्रथम गुलाम नौवीं व आठवीं शती– अंत ई. पू. यूनान में आदिम सरकार घटन काल में बनी। तत्कालीन कुलीन वंशों के बीच निरंतर संघर्ष के दौरान, पुरुष युद्ध–बंदी मार दिए गए। जबकि महिलाएं गुलाम बना ली गई। शुरूआती यूनानी समाज में प्रथम दासों के रूप में वे महिलाएं जो वास्तव में गुलाम थी और जो बंदीकरण व दासकरण के भय में जीती थी। दोनों ने दासता वाली स्थिति के प्रति विरोधात्मक यथा स्वतंत्रता वाली स्थिति के बारे में सोचा और उसका मूल्य आंका।

स्वतंत्रता के इस आदर्श को जो प्राचीन यूनान की महिलाओं की संचेतना में उभरा। पैटरसन व्यक्तिगत स्वतंत्रता की एक संकल्पना पुकारते हैं। वह हालांकि इंगित करते हैं कि यह नकारात्मक स्वतंत्रता की उस धारणा से भिन्न है जो अब पश्चिम में सुविदित है। ''पुराने जमाने की महिलाएं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की एक विशुद्ध रूप से नकारात्मक दृष्टि के साथ कभी संतुष्ट नहीं रही। न सिर्फ इस कारण कि वे इसकी प्रछन्न शून्यता व नैतिक रिक्तता को पहचानती थीं। बल्कि इस कारण भी कि वे देख सकती थीं कि किस प्रकार एक दुर्बलीकृत नकारात्मक स्वतंत्रता सहज ही दूसरों पर शक्ति के रूप में स्वतंत्रता को शिकमी दे दी गई।'' (पैटरसन, पृ. 398) दासों के रूप में प्राचीन यूनानी महिलाओं ने एक बार आजाद हो जाने पर अपनी स्वेच्छा को निश्चयपूर्वक कहने में समर्थ हो जाने की कल्पना की परन्तु महिला–गुलामों के रूप में स्वतंत्रता के ठाठ–बाट को दूसरों की इच्छा प्रधानता के रूप में नहीं वरन् दूसरों के साथ बांटे जाने वाली एक अवस्था के रूप अपने मानस–पटल पर अंकित किया। उनके अनुसार, स्वतंत्रता प्रेम था। अपने भाई–बंधु व परिवारों के पास लौटने की एक दशा।

महिलाओं की स्वतंत्रता–संकल्पना को संग लिए यह मामला पश्चिम में साठ के दशक–पश्चात् नारी–आंदोलन के लेखों में प्रबल हो गया है। विशेषकार छोटे लड़के व लड़कियों पर मातृ–प्रधान पालन–पोषण के पार्थक्यसूचक प्रभाव पर कुछ महिला मनोवैश्लेषिक विचारकों की कृति में। मां जो प्राथमिक प्रभारी होती है स्वार्थ आदि से बाहर निकल कर पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व करती है। यथा, भौतिक संसार सभी शिशुओं हेतु और अपनी मां से सम्बन्ध ही एक बच्चे का संसार में दूसरों के प्रति दायित्व निश्चित करता है। शिशु का दृष्टिकोण अपने और संसार के प्रति सभी पहली बार इस परमपूर्व सम्बन्ध से ही व्युत्पन्न होते हैं। जीवन के अपने प्रथम कुछ वर्षों में मानव शिशु अपनी जननी के साथ अपने सम्बन्ध में विभिन्न चरणों से गुजरते हैं। सहजीवन, पृथक्करण और व्यक्तिकरण। नर व मादा शिशु एक पितृसत्तात्मक संस्कृति में इन चरणों का भिन्न रूप से अनुभव करते हैं क्योंकि उनकी माएं, मनोवैज्ञानिक एवं समाज विज्ञान–सम्बन्धी कारणो से उन्हें भिन्न प्रकार से उत्तर देती हैं।

माएं, उदाहरण के लिए अपने बेटों के पृथक्करण व व्यक्तिकरण को अधिक आसानी से प्रेरित करने में सक्षम होती हैं। जबकि अपनी बेटियों के सम्बन्ध में सहजीवन छोड़ देने को कम इच्छुक होती हैं। इसके अतिरिक्त छोटे लड़के अपनी माओं के साथ अपनी प्राथमिक पहचान को महसूस करना शीघ्र ही सीख लेते हैं। क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि उनकी पुरुष पहचान एक स्त्री की भांति होने के रूप में परिभाषित नहीं की जाती है। ये मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं आमतौर पर दूसरों के साथ उनके सम्बन्धों पर प्रभाव डालती है। पुरुषोचित लिंगभेद पहचान की प्राप्ति में लगाव अथवा सम्बन्ध का अनंगीकार शामिल है। बचपन में मनोविज्ञान की यह प्रक्रिया वयस्क पुरुष प्रतिक्रियाओं की व्याख्या करने हेतु प्रयोग की गई है। उदाहरण के लिए सभी सम्बन्धों की आभासी पुरुष अनुभूति जैसे भय–प्रदर्शन करना और स्वतंत्रता–सम्बन्धी उनका भाव

जैसे जन(नी) की गैर–मौजूदगी। ऐसा करके वह स्वत्व और स्वायत्तता के लिए प्रचलित मानदण्डों का संदिग्धीकरण भी करती है जिनको कि मनुष्यों के अनुभवों पर आधारित माना जाता है। दूसरों की गैर–मौजूदगी की अपेक्षा करने के रूप में स्वायत्तता अथवा स्वतंत्रता के अहसास का वैचारीकरण करके विभ्रान्त किया जाता है। स्वायत्तता का विकास अन्य स्वत्यों के साथ अन्तक्रिया में ही होता है और इसी कारण स्वतंत्रता को अहस्तक्षेप की बजाय अन्य शब्दों में वैचारीकृत किए जाने की आवश्यकता है।

एक अन्य अग्रणी नारी–अधिकारवादी विदुषी, कैरोल पेटमैन भी स्वतंत्रता की एक नई कहानी सुनाने का प्रयास करती हैं। अमेरिकी समाज–विज्ञान सम्बन्धित मनोवैश्लेषिक सिद्धांत की छिद्रान्वेषी, पेटमैन तिस पर भी इस बात की चिंता स्वतंत्रता की वैकल्पिक संकल्पना को जन्म दिए जाने के साथ बांटती है। एक संभाव्य घटना उनका तर्क है जो अपने इस मिथक के सहारे हमारे सामाजिक संविदा सिद्धांत के प्रलोभन को त्यागे जाने पर निर्भर करती है कि व्यक्ति स्वयं में स्वामित्व अधिकार रखता है। महिलाओं की स्वतंत्रता को जन्म देने के प्रयास असंतोषजनक रहे हैं वह स्पष्ट करती है क्योंकि अधिकतर नारी–अधिकारवादी यह अनुभव करने में विफल रहे हैं कि आधुनिक समाज न सिर्फ एक सामाजिक बल्कि एक स्त्री–पुरुष सम्बन्ध विषयक अनुबंध पर भी आधारित है। मूल अनुबंध ने एक न्यायसंगत नागरिक समाज को नहीं वरन् एक पितृसत्तात्मक नागरिक समाज को जन्म दिया। क्योंकि यह अनुबंध आदमियों के बीच अन्य चीजों के साथ ही, ''औरतों तक समान मैथुनिक पहुंच का उपभोग'' करने हेतु था। यह ''पुरुषख्जन की स्वतंत्रता और महिलाओं की परतंत्रता'' में परिणत हुआ। नागरिक स्वतंत्रता एक ''पुरुषोचित सहज गुण'' बनी ही है। (सी. पेटमैन, 1988, पृ. 2) यह मूल अनुबंध साथ ही एक सामाजिक–मैथुनिक–दास अनुबंध भी था और यदि इसके सामाजिक पहलू पर ध्यान केन्द्रित किया जाए कोई नहीं समझ सकता कि इस पर आधारित एक समाज में महिलाएं कैसे मुक्त नहीं हो सकती हैं।

पेटमैन इस प्रकार अनुबंध की आलोचक हैं और दावा करती है कि नारी–स्वतंत्रता को सिर्फ अनुबंध की भाषा त्यागकर पैदा नहीं किया जा सकता। यह भाषा की एक संकल्पना को प्रेरित करती है। जैसे उनके स्वामित्व में अधिकार रखना और इसका उपसिद्धान्त है स्वतंत्रता को स्वावलम्बन के रूप में देखना, विशेषकर श्रम पण्यक्षेत्र में भाग लेने सम्बन्धी स्वावलम्बन। पेटमैन इस तर्क को एक बाद के अंश में भी जारी रखना है। यह दावा करते हुए कि 'स्वतंत्रता स्वावलम्बन के रूप में' को 'स्वतंत्रता स्वायत्तता के रूप में' का रूप दे दिया जाना चाहिए। एक आजादी जो सभी नागरिकों की अन्तनिर्भरता की पहचान के माध्यम से सुरक्षित है। उपर्युक्त चर्चा ने एक विशिष्ट वैचारिक परम्परा में स्वतंत्रता के व्यवहार का उल्लेख किया। यदि हम फिर भी किसी अन्य वैचारिक स्थिति पर नजर डालें। उदाहरण के लिए उदारवादी–साम्यवादी बहस हम वैयक्तिक स्वतंत्रता के अभिप्राय विषयक इसी प्रकार के विवादों को देख सकते हैं।

3.5 सारांश

हर व्यक्ति के जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वतंत्रता की धारणा निश्चित रूप में आधुनिकता का ही उपहार है। इस बात का महत्त्व नहीं कि वह महसूस किए जाने से कितनी दूर हो सकती है। स्वतंत्रता की हाल की चर्चाओं ने जिस पर ध्यान केन्द्रित किया है वो हैं वैयक्तिक स्वतंत्रता और हमारी सामाजिक अन्तर्निर्भरता के बीच सम्बन्ध। यह सम्बन्ध इस सामाजिक अन्तर्निर्भरता की उपेक्षा करके नहीं, बल्कि उसको स्वीकार करके कायम है जिसको हम वैयक्तिक स्वतंत्रता की एक उपयुक्त संकल्पना बना सकते हैं।

3.6 अभ्यास

1. एक त्रयी संकल्पना, यानी, तीन शर्तों वाली एक संकल्पना के रूप में स्वतंत्रता की संकल्पना को प्रस्तुत करने के प्रयास के विषय में आप क्या सोचते हैं? ये तीन शर्तें क्या हैं?
2. 'ए' और 'बी' के प्रभावक्षेत्र को बदलकर स्वतंत्रता की संकल्पनाओं के बीच आप किस प्रकार भेद कर सकते हैं? कुछ उदाहरण दें।
3. स्वतंत्रता की धारणा और स्वतंत्रता की विभिन्न संकल्पनाओं में क्या अंतर है?
4. स्वतंत्रता को वे सिद्धांती जो उसकी सामाजिक दशाओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और नकारात्मक व सकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधरों के बीच क्या आप कोई अंतर पाते हैं? इन अंतरों में से कुछ क्या हैं?

5. क्रियाकलाप के समक्ष बाह्य अवरोधों को परिभाषित करने में नकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधर किस प्रकार भेद रखते हैं? यह शक्ति/योग्यता और स्वतंत्रता के बीच उनके भेद को किस प्रकार प्रभावित करता है?
6. जब बर्लिन तर्क देते हैं कि जो स्वतंत्रता के विषय हेतु प्रासंगिक है व्यक्ति के क्रियाकलाप पर नियंत्रण का क्षेत्र ही है और न कि इस नियंत्रण का स्रोत उनका क्या अभिप्राय है?
7. स्वयं सम्बन्धित तथा अन्य–सम्बन्धित क्रियाकलाप के बीच मिल का विभेदीकरण किस प्रकार स्वतंत्रता की उसकी संकल्पना हेतु प्रासंगिक है?
8. मिल क्यों मानते हैं वैयक्तिक स्वतंत्रता सामाजिक विकास का एक अनिवार्य पूर्वापेक्षित गुण है?
9. इस उक्ति से क्या तात्पर्य है कि 'महज भूख हेतु गुलामी स्वतंत्रता नहीं है'? कुछ उदाहरण दें।
10. रूसो नैतिक व नागरिक स्वतंत्रता की अपनी संकल्पनाओं को एक–दूसरे से किस प्रकार जोड़ने का प्रयास करते हैं?
11. क्या आप मानते हैं कि जब हम कर्म करें हम क्या करें की विषय–वस्तु क्रियाकलाप–स्वतंत्रता की हमारी परिभाषा का हिस्सा होनी चाहिए?
12. स्वतंत्रता मूल्यवान क्यों है? व्यक्तियों के लिए स्वतंत्र होना क्यों महत्त्वपूर्ण हैं?
13. नारी–अधिकारवादी क्यों तर्क देते हैं कि स्वतंत्रता की नकारात्मक संकल्पना स्वतंत्रता का एक ठेठ रूप से पुरुष दृष्टिकोण है?
14. प्रचलित पालन–पोषण व्यवहार किसी व्यक्ति के आत्म–भाव को और दूसरों से उसके सम्बन्ध को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

*****

अध्याय – 4
समानता

अध्याय की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 समानता बनाम असमानता

4.2.1 समानता हेतु संघर्ष

4.3 समानता क्या है?

4.4 समानता के आयाम

4.4.1 कानूनी समानता

4.4.2 राजनीतिक समानता

4.4.3 आर्थिक समानता

4.4.5 सामाजिक समानता

4.5 समानता का स्वतंत्रता व न्याय से सम्बन्ध

4.5.1 समानता व स्वतंत्रता परस्पर विरोधी रूप में

4.5.2 समानता व स्वतंत्रता एक दूसरे की पूरक हैं

4.5.3 समानता और न्याय

4.6 समानता की ओर

4.7 समसामयिक विश्व में असमानता हेतु दलील

4.8 समानता की मार्क्सवादी अवधारणा

4.9 सारांश

4.10 अभ्यास

4.1 प्रस्तावना

सामाजिक, आर्थिक, नैतिक व राजनीतिक दर्शन सम्बन्धी मूल संकल्पनाओं में समानता की संकल्पना से अधिक भ्रामक और विस्मयकारी कोई और नहीं क्योंकि यह न्याय, स्वतंत्रता, अधिकार, स्वामित्व, आदि सदृश अन्य सभी संकल्पनाओं में गण्चय है। गत दो हजार वर्षों के दौरान, यूनानवासियों, प्राचीन यूनानी दर्शनशास्त्र के अध्येताओं, ईसाई पादरियों द्वारा समानता के अनेक आयामों का विस्तारपूर्वक प्रतिवादन किया गया। जिन्होंने भिन्न–भिन्न रूप से और सामूहिक रूप से इसके एक न एक पहलू पर जोर दिया। उदारवाद व मार्क्सवाद के प्रभाववश, समानता ने एक पूर्णरूप से भिन्न सम्पृक्तार्थ ग्रहण कर लिया। नारी–अधिकारवाद, पर्यावरणवाद सरीखे समसामयिक सामाजिक आन्दोलन इस संकल्पना को एक नया अर्थ प्रदान करने का प्रयास कर रहे हैं।

बुनियादी रूप से समानता एक मूल्य है और सिद्धांत जो अनिवार्यतः आधुनिक व प्रगतिशील है। यद्यपि समानता विषयक बहस तो सदियों से चलती आई है। आधुनिक समाजों का खास यह लक्षण है कि अब हम समानता को सच अथवा स्वाभाविक चीज नहीं मानते। समानता को आधुनिक क्या है के मानदण्ड के रूप में और आधुनिकीकरण की पूरी प्रक्रिया को राजनीतिक समाजवाद के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। आधुनिक राजनीति और आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं को सदा सामाजिक दबावों का विषय बनाया जाता है ताकि वे नृजाति, लैंगिक पहचान अथवा आयु पर ध्यान ने देते हुए

अवसरों को समान रूप से बढ़ाए। समानता इस अर्थ में एक आधुनिक मूल्य है कि सार्वत्रिक नागरिकता आधुनिक प्रजातंत्रों से सभी राजनीतिक विचारधाराओं का एक मुख्य अभिलक्षण बन चुकी है। पुनः समानता को उग्र उन्मूलवादी सामाजिक परिवर्तन हेतु एक मानदण्ड के रूप में भी लिया जा सकता है। यह लोकतांत्रिक राजनीति के विकास से सम्बन्धित है। आधुनिक समाज समानता के सिद्धांत के प्रति वचनबद्ध है और अब उन्हें स्वतः न्याय के रूप में असमानता की दरकार नहीं है। अमेरिकी व फ्रांसीसी क्रांतियों द्वारा घोषित समानता का सिद्धांत समाजों के पुनर्गठन हेतु सामाजिक परिवर्तन के सभी आधुनिक रूपों व सामाजिक आन्दोलनों का मुख्य घोषणापत्र बन गया है।

4.2 समानता बनाम असमानता

इससे पहले कि हम समानता के अभिप्राय पर चर्चा करें हमें यह समझ लेना चाहिए कि समानता एक सापेक्ष संकल्पना है। समानता हेतु मांग हमेशा ही अपने–अपने जमाने में व्याप्त असमानताओं के खिलाफ रही है। सामाजिक असमानता की विद्यमानता संभवतः इतनी पुरानी है जितना कि समाज और असमानताओं की प्रकृति व कारण के बारे में तक–वितर्क करना राजनीति–दर्शन का एक प्राचीन विषय है। चिर प्रतिष्ठित यूनान में अरस्तू ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में तीन सामाजिक वर्गों को पहचानना और विवेकपूर्ण व नागरिक क्षमताओं की भाषा में नागरिकों व दासों, पुरुषों व स्त्रियों के बीच सार्थक भेद पाया। पॉलिटिक्स में भागीदारी सिर्फ नागरिकों तक सीमित थी। इसी प्रकार हमारे हिन्दू समाज में शास्त्रीय उद्धरण के अनुसार समाज चार वर्गों (श्रेणियों) में बंटा था : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सभी अधिकार व कर्तव्य इसी वर्गीकरण पर आधारित थे। मध्यकालीन सामन्तवाद के दौरान कानूनी विशेषाधिकार सामाजिक स्थिति व जन्म पर आधारित थे। संक्षेप में विभिन्न प्रकार की असमानताएं लम्बे समय से कायम रही हैं। जिन्होंने इस धारणा को बढ़ावा दिया कि सामाजिक सम्बन्धों में असमानता अपरिहार्य है। दरअसल, पूर्व–अठारहवीं शती की शिक्षाएं यह तर्क देती थीं कि मनुष्य स्वभावतः असमान है और एक स्वाभाविक मानव पदानुक्रम विद्यमान है। विभिन्न विचारधाराओं ने असमानता को उच्च प्रजाति, वंशक्रम, आयु, लिंग, धर्म, सैन्य शक्ति, संस्कृति, समृद्धि, ज्ञान आदि के आधारों पर जायज ठहराया। टर्नर के अनुसार, असमानता बहु–आयामी होती है और असमानता के एक पहलू का विलोपन सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक असमानताओं के अन्य पहलुओं की अत्युक्ति की ओर प्रवृत्त करता हैं वास्तव में सभी मानव समाजों की विशेषताएं वर्ग, प्रतिष्ठा, सत्ता व लिंगभेद के शब्दों में सामाजिक असमानताओं के किसी रूप द्वारा ही बतलाई जाती हैं। समानता की अवधारण का अध्ययन करते समय, आधुनिक समाज में एक सार्वजनिक मूल्य के रूप में समानता और व्यवहारिक स्तर पर समानता के बीच विवाद को सभी मानव समाजों की हकीकत के रूप में हमेशा दिमाग में रखा जाना चाहिए।

4.2.1 समानता हेतु संघर्ष

यदि समानता एक सार्वभौम तथ्य रहा है। विशेषाधिकारों व जन्म पर आधारित असमानताओं के खिलाफ विरोध भी उनके उद्‌गमन काल से ही व्यक्त किया जाता रहा है। इस प्रकार पाश्चात्य राजनीतिक धारणाओं के इतिहास में समानता का सिद्धांत व्यवहारतः इतना पुराना है जितना कि उसका विलोम। उदाहरण के लिए यूनानी दर्शन में सबसे प्रमुख प्रतिभावान व्यक्ति जीनो था जिसने स्टॉइक स्कूल की स्थापना की और मनुष्यों के बीच समानता का समर्थन किया। स्टॉइक्स ने निष्कर्ष निकाला कि सभी मनुष्य विचार शक्ति रखते है और मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न है, संगठित है। मानवता श्रेणी को स्थान नहीं देती। इस प्रकार सभी मनुष्य, मनुष्य रूप से समान है। स्टॉइक दार्शनिकों ने सार्वभौम भ्रातत्व का विचार दिया और वे दासता के बरखिलाफ थे। रोमन साम्राज्य द्वारा प्रजा के कानून की घोषणा एक दूसरा रास्ता था जिस पर चल कर रोमवासियों ने इस सिद्धांत को लागू करने की प्रयास किया कि सभी मनुष्य समान हैं और उसके विस्तार के रूप में उन्होंने व्यक्तियों के साथ–साथ सभी समुदायों को भी नागरिकता प्रदान की। चरमोत्कर्ष सन् 212 ई. में हुआ। जब सम्राट कैराकाला की एक उल्लेखनीय राजाज्ञा द्वारा रक्त साम्राज्य के सभी स्वतंत्र निवासियों को रोम की नागरिकता प्रदान कर दी गई। इस प्रकार सन्त पॉल ने जिलेशिअन्स से कहा न कोई यहूदी है न ही कोई यूनानी न कोई बंधक है न ही कोई स्वतंत्र न कोई पुरुष है न ही कोई स्त्री क्योंकि जीसस क्राइस्ट के अन्तर में तुम सब एक ही हो। पांचवी से चौदहवीं शताब्दी तक समानता हेतु मांग एक पुकार थी दासता, मध्यकालीन वर्ग–विभाजन अथवा क्रम–विन्यास और वंशानुक्रमित कुलीनता के खिलाफ तथा चर्च में जीवनयात्रा अवसरों की तुल्यता। 15वीं से 17वीं शताब्दी तक समानता हेतु आवाज भूस्वामियों की

सामाजिक स्थिति व धार्मिक असहिष्णुता के खिलाफ रही और प्युअरिटन्स, लैवलर्स, नैसर्गिक अधिकार सिद्धांत व जॉन लॉक द्वारा उठाई गई। साथ ही पुनर्जागरण व धर्म–सुधार आन्दोलनों ने जन्म पर आधारित पादरी–वर्ग और अभिजातवर्ग के कानूनी विशेषाधिकारों के खिलाफ एक जोरदार आवाज उठाई और जन्म से समानता की मांग रखी। यह दृढ़कथन कि सभी मनुष्य समान रूप से जन्मे हैं। विश्वभर के घोषणापत्रों में अंकित किया जाना था। 1649 व 1688 में ब्रिटेन में, 1778 में अमेरिका में तथा 1789 में फ्रांस में क्रांतियों ने जन्म सिद्ध समानता के अधिकार को अपना मुख्य घोषणापत्र बनाया। 'मनुष्य स्वतंत्र व समान जन्मे हैं तथा वे अपने अधिकारों में स्वतंत्र व समान हैं।' इस चरण में समानता हेतु मांग अभिजात वर्ग के विशेष प्राधिकारों की समाप्ति तथा अमीरवर्ग के साथ राजनीतिक व कानूनी समानता की उपलब्धि के अनुरूप थी। इसका अर्थ सिर्फ न्यायिक समानता था। यानी 'सभी मनुष्य समान जन्मे है और कानूनी की नजर में वे समान हैं।' चाहे ब्रिटेन हो या फ्रांस या अमेरिका, मुद्दा जो दांव पर था वो था कानूनी अधिकारों की एकरूपता की शक्ल में समानता। जैसा कि पहले कहा गया चूंकि समानता हेतु मांग मुख्य रूप से मध्यवर्ग द्वारा उठायी गयी जो समृद्धि प्राप्त कर चुका था। परन्तु उसको कानूनी दर्जा हासिल नहीं था और जो अभिजातवर्ग के साथ राजनीतिक व कानूनी समानता पाने की इच्छुक था। कानूनी समानता हेतु मांग ने उद्देश्य भलीभांति पूरा किया।

समानता के आर्थिक व सामाजिक आयाम उन्नीसवीं शती के दौरान उभर कर आए जो एक ओर पूंजीवादी/औद्योगिक वर्गों तथा दूसरी ओर कामगारों व किसानों के बीच विवादों व संघर्षों का परिणाम था। आर्थिक मामलों में राज्य की अहस्तक्षेप–सिद्धांत नीति ने समाज में व्यापक आर्थिक विभक्तताओं को जन्म दिया। परिणामस्वरूप, कानूनी समानता के साथ ही, जे.एस.मिल, टी.एच.ग्रीन, बेबफ कार्ल मार्क्स आदि जैसे उदारवादी व मार्क्सवादी लेखकों द्वारा समान रूप में आर्थिक व सामाजिक समानता हेतु मांग भी उठाई गई। इसी के साथ, राजनीतिक समानता हेतु मांग भी और बुलन्द हो गई। विधिक उन्मुक्ति विस्तार आन्दोलन औद्योगिक क्रांति का ही अंकुरण था। जिसने नगरीय मध्यवर्ग की सामाजिक शक्ति बढ़ाई और जनसंख्या के एक बड़े भाग को कारखाना मजदूरों में तब्दील कर दिया। ब्रिटेन में 1832, 1876 व 1884 के सुधार कार्य राजनीतिक समानता की ओर कदम ही थे। बीसवीं शती में समानता हेतु मांग और दुराग्रही हो गई। आज यह उच्च रूप से उद्योगपति समाज की विशेषत्वसूचक सामाजिक–आर्थिक गतिशीलता हेतु अनिवार्य शर्त बन गई है। साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के खिलाफ आन्दोलन, जाति–भेदभाव के खिलाफ आन्दोलन, रूस, चीन व पूर्वी यूरोपियाई देशों में समाजवादी क्रांतियों ने समानता का मुद्दा सबसे आगे ला रखा। 1948 में सार्वभौम मानवाधिकार घोषणा ने समानता की पहचान को बढ़ावा दिया जिसको इस समय तक तीसरी दुनिया के उन लोगों हेतु औद्योगीकृत देशों के सभी सामाजिक स्तरों का लक्ष्य मान लिया गया था जिनके साथ भेदभाव किया जाता था। इससे सामाजिक आर्थिक समानता पर आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अन्त्योदय में मदद मिली।

4.3 समानता क्या है?

जबकि समानता अनेक संकल्पनाओं में से एक है (अन्य हैं अधिकार, स्वतंत्रता, न्याय आदि) यह ऐसे संसार में एक सूक्ष्म संकल्पना है। जहां मनुष्यों के बीच अनेक भेद व्याप्त हैं। हर आधुनिक राजनीतिक संविधान एक बुनियादी कानून के रूप में उत्कीर्ण मानव समानता का कुछ न कुछ अभिप्राय अवश्य रखता है और कितने भी महत्त्व का रहा हो। उसके राजनीति–सिद्धांत ने सामाजिक–आर्थिक समानता की प्रकृति व व्यवहार्यता में योगदान दिया है। तथापि, इसको स्पष्ट रूप से परिभाषित करना उतना ही कठिन है जितना कि इसे राजनीतिक रूप से प्राप्त करना। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया। समाज की संकल्पना सापेक्ष है और यह सिर्फ एक निश्चित संदर्भ में ही समझी जा सकती है। समानता व्यवहार व पुरस्कार की पहचान नहीं है। व्यवहार की कोई परम पहचान हो ही नहीं सकती। जब तक कि अभावों, क्षमताओं व आवश्यकताओं में मनुष्य–मनुष्य से भिन्न है। जैसा कि लास्की ने लिखा, ''समाज का उद्देश्य आरम्भ से ही निष्फल रहेगा यदि एक गणितज्ञ का स्वाभाव राजगीर के स्वभाव वाली सदृश्य प्रतिक्रिया से अनुभव किया जाएगा।'' साथ ही, प्रकृति–प्रदत्त असमानताएं एक अपरिहार्य तथ्य हैं और यह समाज को स्वीकारना ही पड़ता है। असमान व्यक्तियों के साथ समान रूप से व्यवहार करने से अन्याय उतना ही उत्पन्न होता है जितना कि समान लोगों के साथ असमान रूप से बर्ताव करने से। और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, स्वाभाविक असमानताओं से परे, समाज द्वारा उत्पन्न असमानताएं हैं– जन्म, समृद्धि, ज्ञान,

धर्म आदि पर आधारित असमानताएं। समानता हेतु दावे कुछ निश्चित विद्यमान सामाजिक–आर्थिक असमानताओं के औचित्य को ठुकराते हुए हमेशा नकारात्मक ही रहे हैं। जब उदारवाद ने इस बात पर बल दिया कि सभी मनुष्य जन्म से ही समान है। उसका आशय था सम्पत्ति धारण–सम्बन्धी राज–प्रदत्त विशेषाधिकार को चुनौती देना। मनुष्य के अधिकार–सम्बन्धी घोषणा ने स्पष्टतया यह स्वीकार किया कि श्रेष्ठतर योग्यता और चारित्रिक गुणादि समृद्धि, सम्मान व शक्ति भेद हेतु एक उचित आधार हैं। बीसवीं सदी के दौरान, ऐसी किसी भी शैक्षणिक व सामाजिक व्यवस्था को हम ढाते रहे हैं जिसमें उन्नति के अवसर पारिवारिक साधनों पर निर्भर थे और उसके स्थान पर ऐसी व्यवस्था लाते रहे हैं। जो परीक्षा में प्रवीणता को एक मुख्य मापदण्ड बनाए। इस प्रकार हमें जो बात दिमाग में रखनी है। वो है कि प्रसंग से बाहर समानता किसी सामजिक आदर्श हेतु एक खोखला ढांचा है। यह तभी सार्थ होगी ज बवह विशेशीकृत होगी। इतिहास की गति वृहत्तर समानता की ओर नहीं है, क्योंकि जिनती ही तीव्रता से हम एक असमानता को दूर करते हैं हम दूसरी को जन्म दे देते हैंः अन्तर यह है कि हम जिसका परित्याग करते हैं। वह अन्याय होती है जबकि जिसको हम जन्म देते हैं वह तर्कसंगति लगती है। सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक व अन्य योग्यताओं को हमेशा हर नयी पीढ़ी द्वारा सुदृढ़ीकृत एवं पुनर्प्रतिपादित किए जाने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, समानता–बोध निरंतर हर यथापूर्व स्थिति की बुनियादों को कमजोर करता रहता है।

स्वंतत्रता की भांति, समानता को भी उसके नकारात्मक व सकारात्मक पहलुओं में समझा जा सकता है। जब से समानता–बोध उत्पन्न हुआ है। यह कुछ निश्चित विशेषाधिकारों को समाप्त किए जाने में लगा है। चाहे ये सामंती रहे हों या सामाजिक या आर्थिक या कोई और। इस प्रकार नकारी रूप से समानता 'ऐसी विशेषाधिकारों की समाप्ति' से ही सम्बद्ध थी। सकारी रूप से इसका अभिप्राय था 'अवसर की उपलब्धता' ताकि हर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व विकास हेतु बराबर मौका मिले। इस संदर्भ में समानता का मतलब स्पष्ट करते हुए लास्की लिखते हैं कि समानता का अर्थ हैः

1) विशेष प्राधिकारों का अभाव। इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति की इच्छा किसी भी दूसरे व्यक्ति की इच्छा के ही समान है। इसका मतलब है अधिकारों की समानता।

2) कि सभी के लिए यथेष्ट अवसर सामने लाए जाएं। यह उस प्रशिक्षण पर निर्भर करता है जो सभी नागरिकों को प्रदान किया जाता है। चूंकी यह शक्ति समाज में आखिरकार जिसका महत्त्व है। ज्ञान को सदुपयोग की शक्ति है; कि शिक्षा–वैषम्य उस शक्ति के प्रयोग–क्षमता वैषम्य में उससे बढ़कर प्रकट होता है। सभी को सुअवसर दिया जाना चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व की विवक्षाओं को स्पष्टतया अनुभव कर सकें।

3) सामाजिक लाभों तक सभी की पहुंच हो और किसी को भी किसी भी आधार पर रोका नहीं जाना चाहिए। जन्म से अथवा कुल के कारण व पैतृक कारणों से असमातनाएं तर्कहीन हैं।

4) आर्थिक व सामाजिक शोषण का अनस्तित्व।

इसी प्रकार बार्कर लिखते हैं कि समानता का विचार एक व्युत्पन्न मूल्य है– व्यक्तित्व विकास के सर्वोच्च मूल्य से व्युत्पादित – सभी में एक सा और एक समान परन्तु सभी में अपनी भिन्न पद्धति और अपनी भिन्न गति से। उनके अनुसार 'समानता का सिद्धांत, तदनुसार यह अर्थ रखता है कि अधिकारों के रूप में मुझे जिन किन्हीं भी शर्तों की गारण्टी दी गई है। दूसरों को भी और उसी अनुपात में गारण्टी दी जाएगी तथा यह भी कि दूसरों को जो भी अधिकार दिए जाते हैं मुझे भी दिए जाएंगे। रैफेल के अनुसार, ''समानता का वास्तविक ... बुनियादी इंसानी जरूरतों की समान संतुष्टि का अधिकार है जिसमें उन क्षमताओं को विकसित करने व प्रयोग करने की आवश्यकता शामिल है जो विशेषरूप से मानवीय है।'' ई. एफ. कैरिट के अनुसार, ''समानता बस लोगों को समान समझना ही है। जब तक कि आवश्यकता, क्षमता अथवा योग्यता जैसी प्राथमिकता के अलावा कोई कारण विरूद्ध प्रभाव वाला न दर्शाया गया हो।'' अभी हाल ही में ब्रायन टर्नर ने अपनी पुस्तक इक्वालिट में समसामयिक विश्व के प्रसंग में समानता का एक सुबोध अर्थ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार समानता की अवधारणा में निम्नलिखित बातें शामिल की जानी चाहिएः

1) लोगों की आधारभूत समानता

2) अवसर की समानता

3) उन दशाओं की समानता जिनमें रहकर जीवन–दशाओं को समान बनाने का प्रयास हो

4) परिणामलब्धता की समानता।

प्रथम प्रकार की समानता यानी, लोगों की समानता, उन सांस्कृतिक, धार्मिक व नैतिक परम्पराओं में सर्वमान्य है जो 'ईश्वर की दृष्टि में सभी समान है' जैसे कथनों में व्यक्त की जाती है। यह मनुष्य के रूप में मनुष्य की समानता से सम्बन्धित है; 'मानव स्वभाव', 'मानव गरिमा', 'व्यक्तित्व' अथवा 'आत्मा' पुकारी जाने वाली कुछ चीज जिसके आधार पर उनके साथ बुनियादी रूप से बराबर जैसा सलूक किया जाना चाहिए। इस प्रकार की समानता वाली एक आधुनिक धारणा मार्क्सवाद में दिखाई देती है जब वह 'मानव सत्त्व' की बात करता है। मार्क्सवादी परम्परा में यह दावा किया जाता है कि सभी मनुष्य बदस्तूर परिभाषित है। यानी सभी मनुष्य सुविज्ञ, सज्ञान और वास्तविक कारक हैं। यह निश्चयपूर्वक कहता है कि ''मनुष्य अपने अस्तित्व से ही एक सम्पूर्ण स्वतंत्र प्राणी हैं जो स्वयं को प्रकृति के एक यदा वर्धमान नैपुण्य और सदा उत्तरोत्तर सार्वभौम संसर्ग, स्वायत्तता व संज्ञान की दिशा में अपने ही कार्यकलाप से बनाता है।'' साथ ही आर. एच. टॉनी जैसे लेखकों ने सामाजिक समानता के प्रति वचनबद्धता हेतु एक धार्मिक आधार प्रदान करने के लिए समाजवाद और ईसाइयत को प्रायः एक–दूसरे से जोड़ा। तथापि इस प्रकार की समानता को सामाजिक–आर्थिक समानता की धारणा पर आधारित सामयिक कल्याणकारी राज्य में महत्त्व नहीं दिया जाता है।

समानता का दूसरा अर्थ अवसर की समानता के रूप में समानता हेतु सर्वाधिक सर्वमान्य तर्क से जुड़ा है। इसका अर्थ है कि महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं तक पहुंच सार्वभौमिकता के आधार पर सभी के लिए सुगम हो, खासकर उपलब्धि और योग्यता द्वारा। अवसर की समानता के विषय में बहस उन आधुनिक शैक्षणिक संस्थाओं के विकास में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण रही है। जहां प्रोत्साहन और प्राप्ति पैतृक व वर्ग पृष्ठभूमि पर ध्यान दिए बगैर बुद्धि, कुशलता व योग्यता पर आधारित सिद्धांत में निहित होते हैं। इस प्रकार की समानता गुणतंत्र में विश्वास रखती है जहां समाज की व्यावसायिक संरचना उपलब्धि की सार्वभौम मानदण्डों की भाषा में उत्तमता के आधार पर पूरी होती है न कि आयु, लिंग, समृद्ध, जाति, धर्म आदि के आधार पर।

तीसरे, समानता की संकल्पना दशाओं की समानता सम्बन्धी धारणा से गहरे रूप से जुड़ी है और कुछ–कुछ अवियोज्य है। अवसर की समानता उनका सम्मान करती है जो योग्यता सम्पन्न हैं और जो किसी भी प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में व्यक्तिगत उपलब्धि के हित में अपनी कुशलताओं का प्रयोग करने हेतु तत्पर हैं। तथापि, जहां पर माता–पिता अपने बच्चों तक लाभ पहुंचा सकते हैं। उपब्धि के लिए आरम्भ–बिंदु असमान होता है क्योंकि उदाहरण के लिए कामगार वर्ग के बच्चे उन प्रतिकूल अवस्थाओं से शुरू करेंगे जो उन्हें अपने माता–पिता से विरासत में मिली है। अवसर की समानता हेतु समुचित अवस्था को किसी महत्त्वपूर्ण सहमति तक लाने के लिए दशा सम्बन्धी समानता की गारण्टी देना अनिवार्य है। यथा दौड़ में सभी प्रतिस्पर्धियों को उपयुक्त अड़चनों के साथ एक ही बिन्दु से प्रारम्भ करना चाहिए।

चौथे, समानता का सर्वाधिक मूलभूत उद्देश्य है। फल अथवा परिणामों की समानता। संक्षिप्त में इसका अर्थ है कि निर्मित कानून व अन्य राजनीतिक साधनों के माध्यम से परिणामों की असमानताएं आरम्भ–बिंदु अथवा नैसर्गिक योग्यता पर ध्यान दिए बिना प्राप्त की जाती हैं। परिणामों की समानता सम्बन्धी कार्यक्रम एक निष्कर्ष के रूप में आरम्भ में असमानताओं को सामाजिक समानताओं में बदलने का प्रयास करता है। अलाभांवितों (यथा, अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां, महिलाएं, बच्चे विकलांग आदि) के पख में सकारात्मक विभेदीकरण सम्बन्धी सामाजिक कार्यक्रमों का अभिप्राय परिणामों की समानता सुनिश्चित करने हेतु एक सार्थक अवसर–समानता लाने के लिए शर्तों की एक अर्थपूर्ण असमानता हेतु प्रतिकार करना ही है।

इस प्रकार समानता के अभिप्राय को समझने के लिए हमें समानता की विभिन्न धारणाएं दिमाग में रखनी पड़ती है। ऐतिहासिक रूप से जबकि उदारवादी लोकतांत्रिक परम्परा अवसर व दशाओं के विचार की पक्षधर है। परिणाम की समानता प्रतिस्पर्धा व पण्यक्षेत्र द्वारा पैदा की गई असमानताओं के प्रतिकार पर अभिलक्षित समाजवादी नीतियों के घोषणापत्र का एक हिस्सा रही है।

4.4 समानता के आयाम

समानता एक बहु–आयामी संकल्पना है। समानता हेतु आवश्यकता सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महसूस की जाती है। ऐतिहासिक रूप से भी समानता के विभिन्न आयामों हेतु मांग न तो कभी एक ही समय में न ही एक–सी प्रचण्डता के साथ उठाई गई। जबकि उदारवाद ने समानता के कानूनी–राजनीतिक आयामों पर अधिक जोर दिया, समाजवादियों ने सामाजिक–आर्थिक समानता को प्राथमिकता दी। समानता के विभिन्न आयाम हैं:

(1) कानूनी समानता

(2) राजनीतिक समानता

(3) आर्थिक समानता

(4) सामाजिक समानता

4.4.1 कानूनी समानता

व्यापक उदारवाद जब वह सामंती व धार्मिक विशेषाधिकारों से लड़ रहा था ने दृढ़तापूर्वक कहा कि अवसरों के समान वितरण को जीवन, स्वतंत्रता व स्वामित्व के मौलिक अधिकारों का सिर्फ समान आबंटन चाहिए। यदि कानूनी विशेषाधिकारों को उन्मूलन कर दिया जाए और कानूनी अधिकारों की रक्षा की जाए, तो किसी के भी सुख–शांति मार्ग अनुसरण में कोई बाधा नहीं रहेगी। इसका तात्पर्य दो बातों से है: कानून का शासन और कानून के सम्मुख समानता। कानून के शासन का मतलब है कि कानून बल में सर्व–प्रधान है और कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना भी बड़ा व्यक्ति हो अथवा वह ऐसा सोचता हो स्वयं को कानून से ऊपर घोषित नहीं कर सकता है क्योंकि ऐसा करना यादृच्छिक शासन के ही तुल्य होगा। कानून के सम्मुख समानता का अर्थ यह है कि कानून हरेक नागरिक को स्वतंत्रता की गारण्टी देता है। यह बात लोकप्रिय रूप से इस प्रकार स्पष्ट की जाती है। कानून के सम्मुख स्वतंत्रता और कानून का समान संरक्षण।

1) कानून के सम्मुख समानता – 'आम कानून–कचहरियों की देखरेख में देश के रिवाजी कानून के प्रति सभी सामाजिक वर्गों का समान प्रसंग' में निहित है। इसका अर्थ है कि सभी समान व्यक्तियों के बीच कानून बराबर होना चाहिए और समानरूप से ही उसे लागू किया जाना चाहिए तथा 'तादृश के साथ समान रूप से व्यवहार किया जाना चहिए।' दूसरे शब्दों में कानून को अमीर और गरीब, सामन्ती शासक अथवा खेतिहर, पूंजीपति अथवा कामगारों के बीच कोई भेद नहीं करना है। कानून की नजर में सभी बराबर हैं। यह बात यह भी संकेत करती है कि कानून में अधिकारों व कर्त्तव्यों की समानता यानी, कानून के तहत सभी के जीवन व शरीरांग की समान रक्षा और उनके उल्लंघन पर सभी पर समान दण्डादि। तथापि, चूंकि कानून विशेष अधिकारों व कर्त्तव्यों वाले वर्गों को जन्म देता है। जैसे मकान–मालिक बनाम किराएदार, पुलिस बनाम जनता, संसद–सदस्य बनाम न्यायाधीश आदि ऐसी परिस्थितियों में अधिकारों में अन्तर अपरिहार्य हैं और अन्तिम पर अकिंचन नहीं, कानून के सम्मुख समानता का अर्थ वास्तविक कानून–प्रबंधन में समानता भी है। इस तथ्य के बावजूद भी कि लोग कानून के समक्ष समान हो सकते हैं। निर्णायकगण भ्रष्ट अथवा पक्षपाती हो सकते हैं। कानून के सम्मुख समानता को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि न्यायाधीश राजनीतिक दबावों से मुक्त हों, भ्रष्टाचार, पूर्वग्रह आदि से मुक्त हों। कानून–व्यवहार में असमानता बढ़ भी सकती है यदि गरीब आदमी को किसी कानूनी कार्यवाही की लागत से बचाया जाएगा यानी यदि एक अमीर आदमी किसी समझौते को एक गरीब के मुकाबले कम अनुकूल शर्तों पर थोप सकता है तो प्रतिपक्षी अपने पास प्रतिवेदन का कारण होने की धमकी देकर अदालत जा सकता है।

2) कानून का समान संरक्षण – कानून के सम्मुख समानता का अर्थ पूर्ण समानता नहीं है। जबकि कानून लोगों के बीच कोई भेद नहीं करता। समान संरक्षण का अर्थ है कि तर्कसंगत परिस्थितियों के आधार पर कुछ निश्चित विभेद किए जा सकते हैं। कानून, कुछ विशेष परिस्थितियों में युक्तिसंगत भेदभाव कर सकता है। इसका अर्थ है 'समानों के लिए समान कानून और असमानों के लिए असमान कानून।' यह बात भारतीय संविधान के संदर्भ में बड़ी अच्छी तरह समझी जा सकती है। जहां कानून, जबकि जन्म, जाति, मत अथवा धर्म पर आधारित किसी भेद को नहीं मानता है। कुछ निश्चित युक्तिसंगत भेद अथवा स्वीकार करता है जैसे महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण अथवा विशेष कतारें, रेल–यात्रा आदि में छात्रों को दी जाने वाली छूट। पिछड़ापन, लिंग, योग्यता, आदि पर आधारित इस प्रकार के भेद युक्तियुक्त भेद जाने जाते हैं। ऐसे मामलों में कानून समान की बजाय आसमान विनियोग द्वारा लोगों की रक्षा करता है।

कानूनी समानता के विषय में बताते हुए जे.आर. लूकास लिखते हैं कि कानून के सामने समानता का आवश्यक नहीं कि यहि मतलब हो कि कानून समान रूप से व्यवहार करेगा। बल्कि इसकी बजाय वह यह निश्चित करता है कि कानून हर व्यक्ति की पहुंच में होगा। दूसरे शब्दों में कोई भी व्यक्ति इतना छोटा नहीं होगा कि वह कानून की शरण भी न ले सके तथा कोई भी व्यक्ति इतना बड़ा नहीं होगा कि वह कानून के प्रति जवाबदेह न हो। इसका अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति न्यायालयों से मदद हेतु गुहार कर सकता है। हर व्यक्ति उसके आदेशों को मानने हेतु बाध्य है और न्यायालय भी निर्णय निष्पक्ष रूप से लेंगे। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है कानून की समान अधीनता और कानून का समान संरक्षण।

तथापि, कानूनी समानता न्याय प्राप्त करने के समान अवसरों के अभाव में अर्थहीन हो जाती है। उदारवादी समाजों में लोगों को अपनी समानता की रक्षार्थ न्याय पाने हेतु समय व धन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। सभी के पास समान सामथर्य नहीं होती, क्योंकि दोष–प्रक्षालन में खर्चा आता है और कुछ लोग इन खर्चों को उठाने में दूसरों की अपेक्षा अधिक समर्थ होते हैं। इस प्रकार नयायालयों के यथार्थ व्यवहार और संचालन में देश के कानून–विधान से भिन्न असमानता अभी तक व्याप्त है। हालांकि अपनी कार्यप्रणालियों में सुधारों के माध्यम से यह निरन्तर कम हो रही है।

4.4.2 राजनीतिक समानता

जैसा कि लिप्सन लिखते हैं, सामान्यतया और प्रचलित रूप से चन्द लोगों के लाभार्थ ही चन्द लोगों द्वारा बहुतों पर हमेशा से शासन किया जाता रहा है। मानवता एक सामान्य नियम के रूप में असमानताओं व विशेषाधिकारों की शासन–प्रणाली के अन्तर्गत ही जीवित रही है। राजनीतिक मामलों में असमानता का आधार रहा है– ज्ञान (प्लेटो), धर्म और भगवान् (राजतंत्र), जन्म (अभिजात–तंत्र), धन (धनिक–तंत्र), वर्ग (दक्षिण अफ्रीका), प्रजाति (हिटलर), संभ्रात (पैरेटो, मोस्का) आदि। इन सबके विरूद्ध, राजनीतिक समानता लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के अधिकार से जुड़ी है। राजनीतिक समानता हेतु मांग –एक–वयक्ति–एक–वोट' में सारांशतः रूपायित है। यही राजनीतिक समानता का मूल सिद्धांत है जिसे अब दुनियाभर के प्रायः सभी देशों में सम्पूर्ण समर्थन हासिल हो गया है। यह सिद्धांत वोट देने के अधिकार चुनावों में खड़े होने के अधिकार, जाति, वर्ण, लिंग, धर्म, भाषा पर (किए जाने वाले) भेद के बिना सार्वजनिक पद रखने में व्यक्त किया जाता है। लास्की के अनुसार राजनीतिक समानता का अर्थ है वह प्राधिकार जो यह यत्न करता है कि सत्ता अवश्य ही लोकतांत्रिक शासन नियमों के अधीन हो। तथापि, हाल के वर्षों से यह महसूस किया जा रहा है कि राजनीतिक समानता का सिद्धांत इतना सरल नहीं है जितना कि इसका उदारवादी अर्थ बतलाता है। यदि राजनीति शब्द का अर्थ है दूसरों को प्रभावित करने की वह पटुता जो कि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा अथवा उस दल की इच्छा जिससे वह सम्भवतः सम्बन्धित है के मुताबिक चीजों को नियंत्रित, संचालित व व्यवस्थित करने में प्रयोग करता है। स्पष्टतः हम नहीं कह सकते हैं कि लोग राजनीतिक रूप से समान हैं। आधुनिक युग में सरकार की प्रकार्यिकता बहुत जटिल हो गई है और वास्तविक राजनीतिक सत्ता उस नौकरशाही पुलिस व सेना में निहित रहती है जिस पर जनसाधारण का कोई वश नहीं चलता। वस्तुतः राजनीतिक सत्ता व राजनीतिक समानता परस्पर भिन्न वर्ग हैं। आम आदमी पर अनेक दबाव होते हैं। साथ ही होता है घटक बाहुल्य है जिसमें शामिल हैं विभिन्न योग्यताएं, स्वयं का हक कायम करने की योग्यता और सर्वोपरि कुसमंजित स्वामित्व व्यवस्था द्वारा थोपा गया विभेदन। तथापि राजनीतिक समानता की उत्तमता यह मूल सत्य पहचानने में निहित है कि यदि कानून में मनुष्य समान हैं तो शासनाधिकार के सम्बन्ध में भी उनके बीच समानता होनी चाहिए।

4.4.3 आर्थिक समानता

बीसवीं शताब्दी में समानता के आर्थिक पहलू और उसे सुनिश्चित करने के साधनों हेतु एक गहराती चिंता देखी गई या तो उदारवादी व्यवस्था के ढांचे के भीतर ही अथवा एक समाजवादी समाज की स्थापना द्वारा। तीव्र औद्योगीकरण ने एक बढ़ती जागरूकता पैदा की कि अवसर की समानता कानून की उस समानता द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती है जो रोटी चुराने अथवा पुलों के नीचे सोने के लिए अमीर और गरीब दोनों को ही एक समान निषेध करती हैं अवसर की समानता न सिर्फ पहले से ही कुछ अधिकारों के समान आबंटन को लेकर चलती है बल्कि उसे वितरण के एक और नियम–प्रयोग की आवश्यकता पड़ती हैः कुछ मौलिक आवश्यकताओं की संतुष्टि की समानता। इसका अर्थ है आर्थिक रूप से अल्प–लाभांवितों हेतु विशेषाधिकार। जैसा कि टॉनी ने लिखा, 'अवसर की समानता महज कोई कानूनी समानता का मसला

नहीं है। इसका साक्ष्य सिर्फ अयोग्यताओं के अभाव पर ही निर्भर नहीं करता वरन् योग्यताओं की विद्यमानता पर भी करता है। यह वहां प्रचलित है जहां तक और सिर्फ जहां तक समुदाय का प्रत्येक सदस्य उसका जन्म या व्यवसाय या सामाजिक ओहदा कुछ भी हो, वास्तव में न कि महज दिखावे में अपने गुण व बुद्धि–सम्बन्धी नैसर्गिक प्रतिभाओं के पूरे–पूरे प्रयोग के समान अवसर रखता है।'

शुरूआती उदारवादीजन आर्थिक समानता से अर्थ लगाते थे। किसी के व्यापार अथवा व्यवसाय को चुनने की समानता जो उसकी जाति, धर्म–सिद्धांत अथवा आर्थिक पदस्थिति पर ध्यान नहीं देती। यह अनुबंध की स्वतंत्रता के रूप में भी लिया जाता था अथवा इस रूप में कि जहां तक आनुबंधिक बाध्यताओं का सम्बन्ध है, हर व्यक्ति समान है। बहुधा इसे धन–सम्पत्ति और आय के रूप में भी लिया गया। तथापि इन सभी उपायों को अपर्याप्त समझा जाता था। आर्थिक समानता को स्पष्ट करते हुए रूसों लिखते हैं, ''समानता से हमें यह अर्थ लेना चाहिए कि शक्ति और समृद्धि ही हर व्यक्ति के लिए नितान्त न अभिन्न हो बल्कि यह कि कोई भी नागरिक इतना अमीर न हो कि दूसरे को खरीद ले और न ही कोई इतना गरीब कि वह स्वयं को बेचने पर मजबूर हो। आर्थिक समानता का सम्बन्ध वस्तुओं के आबंटन से है। गरीब आदमी को सामान्य आरम्भ–रेखा तक लाने के लिए कानून अवश्य ही सामाजिक विधान तथा समाज–सेवाओं के माध्यम से उन मूल अलाभों की सम्पूर्ति करे, जैसे–न्यूनतम वेतन, कर छूट, बेरोजगारी हितलाभ, मुत स्कूली पढ़ाई, छात्रवृत्ति आदि।

लास्की के अनुसार, आर्थिक समानता सर्वाधिक व्यापक तौर पर एक अनुपात–समस्या है। इसका अर्थ है कि ऐसी चीजें जिनके बिना जीवन अर्थहीन है बिना कोटि अथवा प्रकार में भेद किए सभी के लिए अवश्य ही प्राप्य हों। हर आदमी खाए–पीए अथवा आश्रय पाए। समानता में पर्याप्तता की गुंजाइश तक मौलिक आवश्यकताओं हेतु प्रतिक्रिया की पहचान शामिल है। अवसर–समानता हेतु एक पूर्वशर्त के रूप में बुनियादी जरूरतों की समान सन्तुष्टि को आर्थिक समानता की आवश्यकता अवश्य है, यानी जिन्सों के वितरण में अत्यधिक असमानताओं में कमी। आर्थिक समानता दो–तही होती हैः (1) यह एक सामाजिक स्थिति का मामला इस मुद्दे को उठाता है कि क्या राज्य को औद्योगिक उत्पादन को एक 'समानों की सहभागिता' जैसी किसी चीज में बदल डालने का प्रयास करना चाहिए और एक ऐसी व्यवस्था लानी चाहिए जिसके तहत निर्देश व प्रबंधकारी घटक एक समान आधार पर खड़े हों। धन–सम्पत्ति व आय के सम्बन्ध में मुद्दा यह है कि उनके वितरण में असमानता निवारण के लिए राज्य को किन तरीकों को अपनाने का प्रयास करना चाहिए। उदारवादी राज्य मिश्रित अथ्रव्यवस्था, विशेष कराधान, सामाजिक व्यय–सम्बन्धी तरीकों से वेतन नियमन व वृद्धि व अन्य कल्याण कार्यों के माध्यम से धन–सम्पत्ति की व्यापक असमानताआं में सुधार करता रहा है। राज्य गरीबों के कल्याणार्थ अमीरों पर कर लगाता है। जबकि डैरनड्रोफ, रेमण्ड अरॉन, लिपसेट जैसे उदारवादी समाजशास्त्री को लगता है कि समाज से सभी स्तरों हेतु कल्याण–कार्यों का विस्तार देकर और उत्तरोत्तर कराधान के मार्फत आय व धन–सम्पत्ति के पुनर्वितरण के माध्यम से राज्य आर्थिक वैषम्य को कम करने व सभी की मौलिक आवश्यकताओं की तुष्टि सुनिश्चित करने में राज्य सक्षम रहा है। गैल्ब्रेथ तो यह घोषित करने के कगार पर ही हैं कि आर्थिक समानता पाश्चात्य लोकतंत्रों में अब आदमी के दिमाग मे एक मुद्दा बनना बंद हो चुका है।

तथापि उदारवादी समाजवादी यह महसूस करते हैं कि इस सच्चाई के बावजूद कि राज्य कार्यव्यपार के परिणामस्वरूप सम्पत्ति का वृहत्तर प्रसार ही हुआ है। पूंजीगत संसाधनों का स्थायी स्वामित्त्व तथा अमीर व गरीब के बीच वैषम्य जारी है और अभी तक काफी ज्यादा है। राज्य कार्यव्यापार 'अपने अधिक साम्यिक वितरण की एक व्यापक पद्धति ढूंढने सम्बन्धी समस्या के सिर्फ हाशिये को छूता है। राज्य को अभी लाभ दूसरों में बांटने की एक व्यापक पद्धति तलाश करने सम्बन्धी समस का समाधान पाने का प्रयास करना है।'

4.4.4 सामाजिक समानता

समाजिक समानता हर व्यक्ति के लिए उसे व्यक्तित्व विकास हेतु अवसर की समानता से सम्बन्ध रखती है। इसका अर्थ है जाति, मत, धर्म, भाषा, प्रजाति, लिंग, शिक्षा आदि पर आधारित सभी प्रकार के भेदभावों का उन्मूलन। मुख्य प्रश्न जो आज सामने है वो है राज्य व उसका कानून विभिन्न जातियों, वर्गों व प्रजातियों के प्रोत्साहन, महिलाओं के उद्धार जहां तक कि स्वामित्व में समानता व मताधिकार का सम्बन्ध है तथा शिक्षा संस्थानों में प्रवेश पाने सम्बन्धी अधिकारों की समानता

हेतु कैसे प्रयास करें। प्रजातियों व रंग की समानता इस बात से इंकार करती है वह वर्ग जिसका पक्ष वह लेती है किसी की भी तुलना में निकृष्ट नहीं है। निकृष्टता दो विचारों का तात्पर्य रखती है। पद्ध आलोचित वर्ग हेतु समान विचारों के सिद्धांत को बढ़ावा देने से इंकार जैसे कि नीग्रो, दक्षिण अफ्रीका में अश्वेत, यहूदी आदि और पपद्ध संदिग्ध जैविक साक्ष्य में माध्यम से निकृष्टता सिद्ध करना कि कुछ प्रजातियां दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ हैं।

लिंगों की समानता–सम्बन्धी उदाहरण को इस प्रकार समझा जा सकता हैः पद्ध कि पुरुषों व स्त्रियों के बीच शारीरिक व मनोवैज्ञानिक भेद के बावजूद इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं कि सामान्य तौर पर महिलाएं समझ, व्यापार क्षमता, निर्णय प्रभावित आदि में पुरुषों की तुलना में निकृष्ट होती हैं और कि इस प्रकार की बनावटी निकृष्टताओं पर आधारित भेदभाव को गलत स्थान दिया गया है तथा पपद्ध माने जाने वाले भेद मताधिकार, व्यवसाय प्रवेश, शैक्षिक अवसर, पारिश्रमिक स्तर आदि के सम्बन्ध में लिंगों के बीच भेदभाव का समर्थन नहीं करते। इस प्रकार 'समान काम के लिए समान वेतन' का अर्थ है कि पुरुषों व महिलाओं को समान रूप से भुगतान किया जाना चाहिए। यदि वे पूर्णतया समान रूप से ही काम करते हैं और परिवार के भीतर प्रकार्यों में स्वीकृति जैविक व मनोवैज्ञानिक भेद होते हैं। एक मां से अपेक्षा होती है कि वह स्वयं को घर व बच्चों में खपाएं और एक पिता स्वयं को परिवार के लिए रोजी–रोटी कमाने में। परन्तु यह बात पति को एक स्वामी अथवा मालिक की स्थिति तक उठा देने को तर्कसंगत नहीं ठहराती न ही परिवार की मांगों के प्रति नारी–व्यक्तित्व के सम्पूर्ण बलिदान को। महिला–उद्धार को स्वयं ही न सिर्फ कानून व अर्थव्यवस्थाओं में बल्कि प्रचलित वैवाहिक सम्बन्धों में परिवर्तनों में भी व्यक्त होना पड़ता है। उदाहरण के लिए अनेक पतिजन अब यह मानते हैं कि पहले की पीढ़ियों में परिवारों की मांओं द्वारा ढोया जाने वाला घरेलू बोझ लिंग–भेद द्वारा ध्वनित कार्य–भेद के समग्र अनुपात से अधिक था। गृह–कार्यों व शिशु–पालन में हाथ बांटने की उनकी तत्परता समान–महत्त्व सिद्धांत–सम्बन्धी व्यावहारिक विस्तार का एक संकेत है।

सामाजिक समानता सामाजिक गतिशीलता में मदद करने के एक समान आधार पर शैक्षणि संस्थानों की स्वच्छंदता पर भी निर्भर करती है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहां अत्याधिक असमानताएं विद्यमान होती हैं। लगभग सभी उदारवादी देशों में शिक्षा बहुत अधिक सामाजिक वर्गों की ही तर्ज पर ही संगठित है और शैक्षणिक अवसर बहुत अधिक धन–सम्पत्ति व पद–स्थिति से जुड़े हैं। समाज की विभिन्न सामाजिक पर्तों जैसे अभिजात वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न मध्यवर्ग व गरीब जनसाधारण की खिदमत में विभिन्न प्रकार के विद्यालय होते हैं। उन प्रतिष्ठित विद्यालयों में जहां समाज के धनवान वर्ग के बच्चे शिक्षा ग्रहण करते हैं। लड़कों को प्रेरित किया जाता है कि वे स्वयं को एक शासक वर्ग का ही समझें चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो, प्रशासन का हो अथवा व्यापार का। दूसरी ओर प्राथमिक विद्यालयी शिक्षा जो अधिकतर सरकार द्वारा संचालित की जाती है सदा ही और अभी तक एक सस्ती शिक्षा रही है। प्राथमिक पुस्तक समाज के एक निश्चित वर्ग के उन बच्चों की आवश्यकताओं व क्षमताओं के मुआफिक एक कम दाम की पुस्तक होती है जिनको माना जाता है कि धन–सम्पन्न माता–पिताओं के बच्चों को दी जाने वाली जैसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। यहां तक कि प्राथमिक विद्यालय के लड़के को आज की बदली परिस्थितियों में यदि यह बताया भी नहीं जाता कि संसार को भगवान् ने अमीर, जिन्हें शासन करना है तथा गरीब जिनको शासित होना है में बांटा हुआ है। वे परिस्थितियां ही जिनमें उसे रखा जाता है, उसे पर्याप्त प्रमाण दे देती है। उसे एक ऐसे वातावरण में पढ़ाया जाता है जहां रूग्ण भवन, खेल के मैदानों की कमी, स्कूल पुस्तकालयों व प्रयोगात्मक कार्य हेतु प्रयोगशाला सुविधाओ का अभाव, पुस्तकों की न्यूवता, अध्यापकों की अनुपलब्धता, कोष की अपूर्णता आदि की दृष्टिगोचर होते हैं। गरीब जनसाधारण के बच्चों हेतु अवरों का रोटी की भांति नियतांश–वितरण किया जाता है।

4.5 समानता का स्वतंत्रता व न्याय से सम्बन्ध

समानता व उदारता के बीच सम्बन्ध उदारवाद के दिलचस्प विवादों में से एक है। विवाद की जड़ हैः क्या स्वतंत्रता व समानता एक–दूसरे का विरोधी है अथवा वे एक–दूसरे की परक–? आधुनिक संविधानों में हम मौलिक अधिकारों की सूची में स्वतंत्रता व समानता दोनों का एक प्रायिक साहचर्य पाते हैं। परन्तु वे सदा ही एक–सी नहीं रही हैं। इंग्लिश उदारवादी परम्परा स्वतंत्रता पर अधिक जोर देती प्रतीत हुई जबकि फ्रांसीसी परम्परा ने सदा समानता की सिद्धांत–

सम्बन्धी मान्यता को सुनिश्चित करने का प्रयास किया था। ऐतिहासिक रूप से कहा जाए तो आरम्भिक नकारात्मक उदारवाद समानता की बजाय स्वतंत्रता को प्राथमिकता देता था। वह राज्य के मुख्य कार्य के रूप में 'प्रतिबंधों के अभाव' के अर्थ में स्वतंत्रता की रक्षा की बात करता था और 'कानून के सामने समानता' से परे समानता में किसी भी छूट को राज्य के समुचित कार्य–क्षेत्र से बाहर माना जाता था। बीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ सकारात्मक उदारवाद विपरीत दृष्टिकोण अपनाता है। वह समानता को स्वतंत्रता हेतु एक उत्तम व आधारभूत विषय–वस्तु मानता है। वह स्वतंत्रता व समानता दोनों की प्राप्ति को एक–दूसरे की पूरक मानता है। चलिए इन तर्कों पर विस्तार से विचार करते हैं।

4.5.1 समानता व स्वतंत्रता परस्पर विरोधी रूप में

यह कि स्वतंत्रता व समानता एक–दूसरे की विरोधी हैं। आरम्भिक उदारवाद की एक महत्तपूर्ण विचारगति थी। व्यापक उदारवाद ने स्वतंत्रता को इतनी तरजीह दी कि समानता उसकी दास बन गई। उसका विश्वास था कि स्वतंत्रता नैसर्गिक है और समानता भी ऐसी ही है। इसलिए स्वभावतः स्वतंत्रता व समानता एक–दूसरे की विरोधी हैं।

लॉक, एडम स्मिथ, बैन्थम, जेम्स मिल तथा टॉकविल जैसे शुरूआती विचारक यह महसूस करते थे कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिए। उदाहरण के लिए, लॉक ने समानता को तीन नैसर्गिक अधिकारों की सूची में नहीं रखा। इसी प्रकार लॉर्ड एक्टन तथा एलैक्सिस द टॉकविल जैसे व्यक्तियों ने इस बात पर जोर दिया कि समानता व स्वतंत्रता नीतिशास्त्र–विरूद्ध हैं। उनका तर्क था कि समानता हेतु इच्छा ने स्वतंत्रता रखने की संभावना को समाप्त कर दिया है।

इस युग में उदारवाद मुक्त बाजार तथा अहंभावी बुद्धिमान व्यक्तियों के बीच खुली होड़ की संकल्पना पर आधारित था और उसका विश्वास था कि आर्थिक प्रतिस्पर्धा, यद्यपि असमान का परिणाम उपकारी और प्रगतिशील होगा। असमानता का यह वैधीकरण व्यक्तिवाद के सिद्धांत पर बहुत जोर देता था और उसके प्रति वचनबद्ध था। राजनीतिक स्तर पर वह दावा करता था कि स्वतंत्रता व समानता के बीच एक आवश्यक विरोध है। ठीक जैसे स्वतंत्रता व्यक्ति से जुड़ी है, समानता, सामाजिक हस्तक्षेप से जुड़ी है। इस प्रकार असमानता दूर करने के किसी भी प्रयास में परिस्थितियां समान करने व विद्यमान विशेषाधिकारों को समाप्त करने हेतु सामाजिक व राजनीतिक हस्तक्षेप निहित होता है। तथापि इस हस्तक्षेप को व्यक्ति व स्वतंत्रता–सम्बन्धी निजी व्यवहार में जरूर दखलंदाजी करनी चाहिए।

शुरूआती उदारवादियों का विश्वास था कि एक असमान समाज में कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से धन–सम्पत्ति व विशेषाधिकार नहीं छोड़ता और परिणामस्वरूप, सामाजिक साम्यीकरण के कार्यक्रमों को व्यक्ति के लोकतांत्रिक अधिकारों के साथ जरूर हस्तक्षेप करना चाहिए। केवल व्यक्ति ही अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं व रूचियों को जानने व अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम हैंः राज्य अथवा किसी अन्य निकाय के लिए यह अनुचित होगा कि वह नागरिकों के जीवन व स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करे। शुरूआती उदारवाद में स्वतंत्रता, पसंद और धन निकटता से जुड़े थे। अमीरों की धन–सम्पत्ति में उनकी स्वतंत्रता भी निहित थी और उनकी धन–सम्पत्ति को उनसे बलपूर्वक छीने जाने का मतलब था उनकी आजादी का दोहरा अतिक्रमण।

बीसवीं शताब्दी में इस सिद्धांत का बेजहॉट, में, स्टिफन, हयेक, मिल्टॅन फ्रीडमैन, मॉस्का, पैरेटो आदि द्वारा समर्थन किया गया। उनका मानना है कि वित्तीय व सामाजिक असमानताओं के चलते परिस्थितियों की सामाजिक समानता अथवा परिणाम की समानता सुनिश्चित करने हेतु किसी भी राजनीतिक कार्यक्रम को एक सर्वसत्तावादी और सत्तावादी राज्य–व्यवस्था में परिणत होते राज्य द्वारा व्यापक सामाजिक व राजनीतिक नियमन की आवश्यकता होगी। 'समानता के लक्ष्य' ने व्यवहारतः असमानता व प्रजापीड़न की ओर प्रवृत्त किया है। यह महज इत्तेफाक नहीं है। यह उन परिस्थितियों का सीधा परिणाम है जो समानता की नितांत संकल्पना में निहित हैं। समतावाद राज्य की अवपीड़क शक्ति विषयक अपने लक्ष्य प्राप्ति पर भरोसा करता है जैसा कि वे उस मानव उपादान के स्वभाव के साथ करने को बाध्य होते हैं जिसके साथ वे क्रियाव्यापार करते हैं। एक ऐसा समाज जिसमें मानव अस्तित्व के प्रति मौलिक विकल्प अवपीड़न द्वारा तय किए जाते हैं। वह स्वतंत्र समाज नहीं होता है। निर्विरोध रूप से यह बात सामने आती है कि समतावादियों को स्वतंत्रता व समानता में से एक अवश्य चुनना चाहिए।

इसी प्रकार ह्येक के अनुसार, ''तथ्य से कि लोग बहुत भिन्न होते हैं। यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम उनसे समान रूप से व्यवहार करते हैं। परिणाम उनकी वास्तविक स्थिति में असमानता ही होगा और कि उन्हें एक समान स्थिति पर रखने का तरीका उनके साथ भिन्न रूप से व्यवहार ही होगा। कानून के समक्ष समानता, जिसकी स्वतंत्रता को अपेक्षा होती है भौतिक असमानता की ओर प्रवृत्त करती है। अपनी परिस्थितियों में लोगों को ज्यादा एक सा बनाने की इच्छा एक स्वतंत्र समाज में स्वीकार नहीं की जा सकती। साथ ही, यह और भी ज्यादा तथा भेदभावपूर्ण अवपीड़न हेतु औचित्य प्रतिपादन होगा।''

दूसरे शब्दों में महत्त्वपूर्ण समानता का मूल्य वह राजनीतिक निरंकुशता होगा जो वैयक्तिक प्रतिभा व उपलब्धि का कम महत्त्व मानेगा। समानता के नाम पर राज्य अनावश्यक रूप से अपनी शक्तियां बढ़ा लेता है और लोगों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं पर रोक लगाता है।

व्यक्तियों की परिवर्तकारी समानता और परिणाम को नियमन की सर्वसत्तात्मक व्यवस्था की अपेक्षा होती है। तथापि यह भी समानता की कोई गारण्टी नहीं है। व्यवहारतः, तथाकथित सर्वसत्ताक राज्य–व्यवस्थाओं ने कदापि सम्पूर्ण नियंत्रण हासिल नहीं किया। चूंकि मनुष्य पूर्ण अनुशासन का अनिच्छुक होता है। ऐसी असमानताओं को मिटाने के सभी सामाजिक व राजनीतिक प्रयासों के बावजूद परिणाम की असमानता का कुछ अंश अपरिहार्य लगता है। इस प्रकार विचारधारा पर ध्यान न देते हुए समानता की प्राप्ति एक समस्या है।

लोकतंत्र के अभिजात–सिद्धांत समर्थक यह मानते हैं कि लोग राजनीतिक रूप से समान है और लोकतंत्र व स्वतंत्रता को एकतंत्र से बचाने के लिए यह अनिवार्य है कि केवल अभिजात वर्गों को ही (यथा, वे व्यक्ति व समूह जो श्रेष्ठ और इस प्रकार असमान है) राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक स्वतंत्रता कायम रखने के लिए असमानता, न कि समानता स्वतंत्रता का आधार है।

संक्षिप्ततः स्वतंत्रता व समानता असंगत हैं। उदारवाद का अर्थ है स्वतंत्रता, समानता सिर्फ कानून के सामने वांछनीय है। राजनीतिक समानता मताधिकार व अभिजात्यों के चुनाव तक ही सीमित होनी चाहिए। सामाजिक व आर्थिक समानता जहां तक कि वह राज्य की शक्तियों में इजाफा करती है। स्वतंत्रता पर एक खतरा है।

4.5.2 समानता व स्वतंत्रता एक–दूसरे की पूरक हैं

इस आरंभिक उदारवादी तर्क ने कि समानता व स्वतंत्रता परस्पर गैर–मिलनसार है। व्यक्तिगत हितों व सामाजिक आवश्यकताओं के बीच एक अपरिहार्य विवाद का रूप ले लिया। परन्तु व्यक्ति बनाम समाज का यह द्वैदाश्य ऐतिहासिक रूप से असफल सिद्ध हुआ। उन्नीसवीं शती में समाजवादियों व सकारात्मक उदारवादियों द्वारा उठाई गई आर्थिक एवं सामाजिक समानता–सम्बन्धी मांग ने समानता को स्वतंत्रता की प्रमुख वांछनीयता बना दिया। सकारात्मक उदारवादियों का दावा था कि स्वतंत्रता व समानता एक–दूसरे की पूरक हैं तथा राज्य को विधान व नियमन के माध्यम से सामाजिक व आर्थिक असंतुलनों को ठीक करने का काम सौंपा गया है। इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं– रूसो, मैटलैण्ड, टी.एच. ग्रीन, हॉबहाउस, लिंडसे, आर.एच. टॉनी, बार्कर, लास्की, मैक्फर्सन आदि।

सकारात्मक उदारवाद ने व्यक्ति को एक ऐसे सामाजिक प्राणी के रूप में देखा जिसकी इच्छाएं एक सामाजिक परिवेश के भीतर किसी सहकारी सामाजिक सम्बन्ध के प्रसंग में पूरी नहीं की जा सकती थी। उसने स्वतंत्रता को 'अवसर समानता' के रूप में प्रस्तुत किया जिसका अर्थ है कि अवसर हर किसी को 'उसके व्यक्तित्व के निहितार्थ' का अनुभव कराने के लिए ही दिए जाने चाहिए। ऐसे अवसर को प्रदान करने के लिए मंत्रणात्मक सामाजिक निग्रहों को वैयक्तिक स्वतंत्रता से ऊपर रखे जाने की आवश्यकता है। जैसा कि टॉनी ने लिखा है, ''निर्बल की स्वतंत्रता बलवान के निग्रह पर निर्भर करती है और गरीब की स्वतंत्रता बलवान के निग्रह पर। हर व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए और दूसरों पर प्रयोग करने के लिए कदापि नहीं। जैसा कि वह कर सकता है ताकि वे ऐसा न करें।'' स्वतंत्रता की मांग है कि किसी को भी दूसरों की दया पर न रखा जाए। सभी के लिए अवसर सुनिश्चित करके ताकि वे यथासम्भव सर्वोत्तम बनें, स्वतंत्रता समानता को वास्तविक बना देती है। स्वतंत्रता के बिना समानता उबाऊ एकरूपता में व्यपगत हो जाती है।

आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना स्वतंत्रता को अनुभव नहीं किया जा सकता। एक आर्थिक असमानों के समाज में सकल असमानताएं स्वतंत्रता को कुछेक का ही विशेषाधिकार बना देती हैं। जैसा कि लास्की लिखते हैं, उदारता में रूचि तब पैदा होती है जब लोग मात्र अस्तित्व की समस्या से अभिभूत होना बंद कर देते हैं। ऐसा तब होता है जब उनके पास अवकाश का अवसर, आर्थिक क्षमता व विचारार्थ अवकाश हो। ये स्वतंत्र व्यक्ति की आवश्यक शर्तें हैं। समानता, जो धन–सम्पत्ति व सत्ता की सकल असमानताओं को समाप्त करने पर अभिलक्षित है। स्वतंत्रता का सच्चा आधार है। जब कभी असमानता होती है स्वतंत्रता की अपेक्षा की जाती है। टॉनी का उद्धरण दोबारा लिए जाने पर 'स्वतंत्रता के प्रति शत्रुवत् होने से दूर, समानता का एक बड़ा कदम इसके लिए अनिवार्य हैं एक समाज, जो सकल असमानताओं की अनुमति देता है। राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतंत्रता को सुनिश्चित नहीं कर सकता। जहां कहीं भी अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित होते हैं हम मालिक और नौकर पाते हैं।' धन–सम्पत्ति की असमानता अमीर व गरीब के बीच समाज विभाजन में परिणत होती है। जहां अमीर अपनी धन–सम्पत्ति का प्रयोग सत्ता कब्जाने और उसका अपने निहित स्वार्थों हेतु प्रयोग करने के लिए करते हैं। ठीक इसी प्रकार, यदि कहीं कोई सामाजिक असमानता होती है तो लोग स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिए, अछूत, अनुसूचित जातियों व जनजातियों जो सामाजिक व आर्थिक, दोनों रूप से असमान हैं। स्वतंत्रता नहीं भोग सकती हैं। इसी प्रकार, न्याय में समानता नागरिक स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु एक आवश्यक शर्त है। परन्तु कुशल वकील करने में गरीब की असमर्थता न्याय प्राप्त करने में एक घातक बाधा बन जाती है। इस प्रकार पोलार्ड लिखते हैं। 'स्वतंत्रता का सिर्फ एक उपाय है और वह समानता में निहित है। समानता के बिना स्वतंत्रता चंद लोगों के एक लाइसेन्स में निकृष्ट हो सकती है।'

सकारात्मक उदारवादी इस विचार से सहमत नहीं थे कि आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में राज्य नियमन सत्तावाद की ओर प्रवृत्त करेगा। दूसरी ओर जैसा कि हॉबहाउस ने लिखा है, राज्य अनुभव की सुव्यक्त शिक्षाओं द्वारा प्रेरित है कि समानता के बिना स्वतंत्रता 'शानदार विचार और घिनावने परिणामों' का नाम है। सही रूप से समझे जाने पर कल्याणकारी विधान स्वतंत्रता व समानता के दो भिन्न आदर्शों के अल्लंघन के रूप में नहीं, बल्कि उनके पालन के लिए एक अनिवार्य साधन के रूप में नजर आता है। बेरोजगारी, स्वास्थ्य, बीमा, वृद्धावस्था पेंशन, मुत शिक्षा, आम सुख–सुविधाओं में वृद्धि आदि के क्षेत्र में सामाजिक विधान समाज में असमानताएं कम करने में काफी मददगार सिद्ध हुए हैं। इसके बावजूद, बृहत्तर साम्यकरण की इस दिशा में सुधार की सीमाएं छुए जाना अभी बाकी है। असमानता व स्वतंत्रता दोनों परस्पर पूरक हैं और एक–दूसरे के बिना अधूरी हैं। दोनों की एक ही मंजिल है। विशिष्ट व्यक्तित्व को प्रोत्साहन तथा उसके व्यक्तित्व का ऐच्छिक विकास। इस संदर्भ में, स्वतंत्रता व समानता दोनों एक–दूसरे के पूरक व अनुपूरक हैं। स्वतंत्रता के बिना समानता नहीं और समानता के बिना स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं। दोनों को ही सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। जैसा कि डीन लिखते हैं, ''स्वतंत्रता व समानता में विवाद नहीं है अथवा वे अलग नहीं हैं। परन्तु एक ही आदर्श के भिन्न पहलू हैं... वस्तुतः चूंकि वे अभिन्न हैं। कानून–सम्बन्धी अथवा उस सीमा तक जहां तक कि वे सम्बन्धित हैं अथवा हो सकते हैं। कोई समस्या हो ही नहीं सकतीः यह निश्चित रूप से निकटतम है। यदि राजनीति–दर्शन की एक शाश्वत समस्या हेतु सदा–विचारित कोई भी सर्वाधिक संतोषजनक हल न हो।' इसी प्रकार गैन्स लिखते हैं, 'स्वतंत्रता व समानता के बीच कोई अन्तर्निहित विवाद नहीं है। समाज, जिसका हम निर्माण करें, प्र्याप्त समानता प्रदान करे ताकि हर व्यक्ति को दूसरे को अनुचित समानता का दण्ड न देते हुए यथा सम्भव अपने नीजी जीवन को नियंत्रित करने की स्वतंत्रता मिल सके।'

तथापि स्वतंत्रता व समानता के बीच मेल–मिलाप के बावजूद, सकारात्मक उदारवाद भी समानता की तुलना में स्वतंत्रता को महत्त्व देता है। उदाहरण के लिए बार्कर लिखते हैं कि समानता के नाम पर कोई भी दावा किए जाए, इसको अलग रखकर नहीं देखा जा सकता। क्योंकि यह सिद्धांत स्वतंत्रता व बन्धुत्व के सिद्धांतों के साथ ही चलता है। परन्तु अब तक इस विचार हेतु कारण विद्यमान हैं कि स्वतंत्रता का वनज समानता से कहीं अधिक है। यह इसलिए बड़ी है क्योंकि यह व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्य से अधिक गहरे जुड़ी है। बनिस्पत उसकी क्षमताओं सम्बन्धी ऐच्छिक विकास के। यह इसलिए भी बड़ी है क्योंकि स्वतंत्रता का उद्देश्य मनुष्य किसी ऐसी चीज में बांध देता है जो हर किसी और सभी के पास हो सकती है जबकि समानता का उद्देश्य, अनन्य रूप से थोपा गया। उन्हें द्वेषोत्पादक मतभेदों के संभावित रूपों की ईर्ष्याओं में धकेल सकता है और एकता की बजाय विभाजन पैदा कर सकता है।' समानता यदि समरूपता के बिंदु तक थोपी जाए अपने ही उद्देश्य में विफल रहेगी। यथा 'मुद्दा तो हावी हो जाएगा और बयान बेतरतीब'।

4.5.3 समानता और न्याय

स्वतंत्रता की भांति, समानता व न्याय के बीच सम्बन्ध भी एक सामाजिक विवादास्पद सम्बन्ध है। जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की जो हम समाज में देखते हैं वे आयु, लिंग, योग्यता, शिक्षा स्थिति, धन–सम्पत्ति, अवसर आदि पर आधारित अनेक असमानताएं हैं। धन–सम्पत्ति व सामाजिक स्थिति–सम्बन्धी असमानताएं अधिकार की असमानताओं तथा चंद लोगों की इच्छा पर अनेक लोगों की निर्भरता व अधीनता की ओर प्रवृत्त करती है। ऐतिहासिक रूप से इस प्रकार की असमानताएं न सिर्फ औचित्य–प्रतिपादित की गई बल्कि कायम भी रखी गई। यूनानी समाज जन्म, सामाजिक स्थिति व जाति पर आधारित था। पूर्व उदारवाद ने कानूनी व राजनीतिक समानता के उद्देश्य की हिमायत करते हुए अनुबंध की सवतंत्रता, मुक्त प्रतिस्पर्धा व निजी स्वामित्व से उपजी आर्थिक व सामाजिक असमानताओं का बखेड़ा नहीं पाला।

तथापि सामाजिक–आर्थिक समानता आने के कारण साथ ही विद्यमान असमानताओं के खिलाफ संघर्ष न्याय का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया। आज समानता का किसी न किसी रूप में हरेक न्याय–सिद्धांत द्वारा आह्वान किया जाता है। न्याय की मांग है कि राजनीतिक अवसर की समानता, बर्ताव की समानता, वस्तुओं व सेवाओं के एक समान वितरण तथा एक आदमी, एक वोट आदि को उत्पन्न किए जाने के लिए ही की जानी चाहिए। पुनः सिर्फ कानून के सामने समानता–सम्बन्धी सिद्धांत लागू करके ही तथा कानून के समान संरक्षण द्वारा ही हम निश्चित हो सकते हैं कि हमारे मामले में भी दूसरों की भांति ही सलूक किया जाएगा। समानता इस प्रकार न्याय–सम्बन्धी सिद्धांत के प्रति केन्द्रिक बन जाती है।

समानता व न्याय के बीच सम्बन्ध विषयक कोई भी चर्चा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक कि जॉन रॉल्स का नाम न लिया जाए। रॉल्स ने न्याय–सम्बन्धी एक सामाजिक सिद्धांत की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अधिकारों व स्वतंत्रताओं सम्बन्धी उदारवादी सिद्धांतों का सामंजस्य आर्थिक व सामाजिक समानता सम्बन्धी सामाजिक समतावादी संकल्पना के साथ स्थापित करती है। उनके अनुसार एक न्यायोचित समाज में समान आधारभूत स्वतंत्रताओं का अधिसीमांकन किया जाता है जहां एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता के आड़े नहीं आती। साथ ही वह उन प्रस्तावों के एक सेट का खाका खींचते हैं जो सामाजिक व आर्थिक असमानताओं के लिहाज से एक न्यायभाव उत्पन्न करते हैं। ये असमानताएं उनके अनुसार इस प्रकार सुव्यवस्थित की जाएं ताकि वे समाज में न्यूनतम लाभांवितों के अधिकतम लाभार्थ योगदान करें और सरकारी नौकरियां व पद अवसर समानता सम्बन्धी शर्तों के तहत सभी के लिए खुले हों। न्याय–सम्बन्धी उनकी आम धारणा यह है कि सभी अनिवार्य सामाजिक वस्तुएं सभी के बीच समान रूप से बांटी जाएं जब तक कि इन वस्तुओं का कोई भी असमान वितरण समाज के न्यूनतम समर्थित सदस्यों के लाभार्थ न हो। सरल शब्दों में इसका अर्थ है कि आय–माध्यिका से ऊपर असमानता न्याय की दृष्टि से केवल तभी सामाजिक रूप से वांछित है। जब वह उन असमानताओं को कम करने में मदद करे जो इस माध्यिका से पहले विद्यमान हैं। समानता वांछित है क्योंकि समानता पर आधारित न्याय–सिद्धांत समाज के सभी सदस्यों के लिए एक वर्धमान लाभ प्रस्तुत करते हैं। खासकर न्यूनतम समर्थियों के लिए। परन्तु यह गौरतलब है कि रॉल्स उस मामले में जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती है असमानताओं को पूरी तरह से नियम–विरूद्ध कहकर घोषित नहीं करते। उदाहरण के लिए प्रोत्साहन रूप में न्यूनतम लाभांवितों के वितरणार्थ एक बड़ा माल असबाब तैयार करना।

समानता व न्याय के बीच सम्बन्ध को एक अधिक ठोस और बुनियादी स्तर पर भी जा सकता है। यथा समानता का विचार समान वितरण के अर्थ में नहीं बल्कि लोगों से समानों के रूप में बर्ताव किए जाने के रूप में। न्याय की मांग है कि कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर सरकार अपने नागरिकों के साथ समान आधार पर व्यवहार करें। हर नागरिक समान महत्त्व और समान का हकदार है। किमलिका के अनुसार समानता का यह अधिक आधारभूत विचार नोजिक के इच्छास्वातंत्रयवाद के साथ–साथ मार्क्स के साम्यवाद में भी पाया जाता है। जबकि इच्छा स्वातंत्रयवाद का मानना है कि समानता का अर्थ है किसी के श्रम व स्वामित्व पर समान अधिकर मार्क्सवादी इसे आय व धन–सम्पत्ति की समानता के रूप में लेते हैं। कोई भी सिद्धांत जो यह दावा करता हो कि कुछ लोग सरकार से समान सम्मान पाने के हकदार नहीं हैं अथवा यदि यह दावा किया जाता हो कि कुछ लोग–विशेष का दूसरों के बराबर महत्त्व नहीं है। तब इस आधुनिक जगत में अधिकांश लोग उस सिद्धांत को तत्काल तरस्त कर देंगे। इस सन्दर्भ में डवोर्किन यहां तक कहते हैं कि हरेक युक्तियुक्त राजनीतिक सिद्धांत का एक ही अन्तिम मूल्य होता है जो कि समानता है और यह कि 'हर व्यक्ति का समान रूप से महत्त्व है' ही 'न्याय–सम्बन्धी सभी समकालीन सिद्धांतरों का मर्म' है।

4.6 समानता की ओर

इस बात में कोई संदेह नहीं कि सभी समाज असमान हैं। पूंजीवाद के उदय ने जन्म व विशेषाधिकारों पर आधारित असमानताओं के एक सेट के स्थान पर निजी स्वामित्व पर आधारित असमानताओं के दूसरे सेट को रख दिया। हालांकि ऐसे अनेक ऐतिहासिक परिवर्तन हुए जिन्होंने समानता व साम्यवाद की दिशा में रूझानों को प्रोत्साहित किया। असमानता दूर करने के सकारात्मक प्रयासों को प्रायः व्यक्तिगत स्वतंत्रता व सामाजिक समानता के बीच विरोधाभासी सम्बन्ध द्वारा गुप्त रूप से नुकसान पहुंचाया जाता है। परन्तु यहां महत्त्वपूर्ण बात है अवसर की समानता तथा दशाओं की समानता व परिणामों की समानता जैसे समानता के अन्य रूपों के बीच भेद करना। जबकि अधिकतर लोकतांत्रिक समाज अवसर–सम्बन्धी समानता और काफी हद तक दशाओं–सम्बन्धी समानता प्राप्त कर चुके हैं। उन्हें अभी भी परिणामों की समानता लाने के लिए लम्बा सफर तय करना है। नागरिकता अधिकारों ने जो पहले यूरोप में विकसित हुए और फिर विश्व के अन्य भागों में फैले, एक अवसर, योग्यता व प्रतिस्पर्धा की समानता पर आधारित समाज को जन्म देने में मदद की। कानूनी नागरिकता यादृच्छिक कानूनी बाधाओं से व्यक्ति को मुक्त करने से जुड़ी थी और उसने शैक्षिक योग्यताओं के आधार पर व्यवसायों व जन–प्रशासन के दरवाजें खोल दिए। इसी प्रकार राजनीतिक नागरिकता अधिकारों ने लोगों को सरकार के मामलों में भाग लेने का अवसर प्रदान किया। सामाजिक नागरिकता ने विधान के माध्यम से पूंजीवाद की बुराइयां दूर करने का प्रया किया। सामाजिक नागरिकता ने विधान के माध्यम से पूंजीवाद की बुराइयों दूर करने का प्रयास किया। बुनियादी शिक्षा, स्वास्थ्य व सामाजिक सुरक्षा हेतु दशा–सम्बन्धी समानता लाने के लिए सार्वभौम प्रावधान का क्रमिक विकास एक शीलन प्रयास था। बीसवीं शती में कल्याणकारी राज्य का विस्तार सामाजिक विधान का विस्तारण था। न्यूनतम वेतन, कार्य के घण्टे, बेरोजगारी भत्ता, कार्य–दशाएं, व्यावसायिक सुरक्षा आदि विषयक विधान ने श्रम–बाजार में एक जिन्स मात्र के रूप में कर्मचारियों को कम असुरक्षित बना दिया। साथ ही हम यह नहीं भूल सकते कि ये परिवर्तन निजी धन–सम्पत्ति स्वीकारण के लिहाज से पूंजीवाद के आर्थिक आधार को नहीं बदलते। ब्रायन टर्नर ने इसे एक समास–चिह्न युक्त व्यवस्था कहा है। क्योंकि यह वर्ग, सामाजिक स्थिति व सत्ता की भाषा में साम्यवादी नागरिक अधिकारों के एक प्रगतिशील विस्तार को असमानताओं की निरन्तरता से जोड़ता है।

नागरिकता अधिकारों से परे गैलनर के अनुसार आधुनिक औद्योगिक समाजों में अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं हैं जो एक साम्यवादी आदर्श स्थापित करना चाहती है। अंशतः पदानुक्रमित सामाजिक प्राधारों के पतन और ऐसी संस्कृतियों को कमजोर करने के परिणामस्वरूप जिन्होंने पारम्परिक रूप से समानता को विधिकृत किया। उदाहरण के लिए आधुनिक औद्योगिक समाजों का लक्षण होता है सामाजिक गतिशीलता का एक उच्च मापदण्ड जो पदस्थिति के पारम्परिक रूपों के लागू किए जाने को मुश्किल बना देता है। गांवों व कस्बों से शहरों की ओर युवाओं का झुकाव पैतृक प्राधिकार के पतन से जुड़ा था। इसी प्रकार आधुनिक पूंजीवाद के अनेक अभिलक्षणों खासकर कार्यबल में महिलाओं के आवेश्टन ने कुटुम्ब में पितृसत्तात्मक प्राधिकार को कमजोर किया है। एकाकी परिवार के उदय ने समाज में महिलाओं की बदलती सामाजिक स्थिति में योगदान दिया है। साथ ही जनसंचार माध्यमों के विकास तथा आधुनिक उपभोक्तावाद के उदय ने एक कार्य से फुरसत प्राप्त समाज को जन्म दिया है, जहां रूझानों के परम्परागत प्रतिमानों व उनसे जुड़े सांस्कृतिक असमानताओं के रूपों का ह्रास हुआ है। नई जिन्सों के उपभोगार्थ कामगार वर्ग की सक्षमता भाटक–क्रय, रेहनों व अन्य ऋण–सुविधाओं की मार्फत बड़ी तेजी से बढ़ी है। पुनः रेडियों व टी.वी. ने सभी सामाजिक वर्गों हेतु एक समरूप संस्कृति के विकास में योगदान दिया है। आधुनिक साम्यवाद के पास जन–परिवहन के सामयिक साधनों की भी बहुतायत है। व्यापक तल–परिवहन और रेलमार्गों ने अचलता, प्रांतवाद व परम्परागत सामाजिक वर्गों के पार्थक्य को दूर करने में मदद की है।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि असमानताओं के इस संसार में ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो मानव समाजों में समानताओं को बढ़ावा देती हैं। प्रथमतः एक न्याय–भाव है जो सभी सामाजिक सम्बन्धों का एक आवश्यक अभिलक्षण प्रतीत होता है। असमानता रक्षात्मक विषयक है। दूसरे लोकतांत्रिक समाजों की राजनीति एक अवपीड़न नियंत्रण नहीं बल्कि संस्थाओं का एक सेट है जो लोगों को इच्छित लक्ष्यप्राप्ति हेतु समर्थ बनाता है। तीसरे कामगार वर्ग व नारी–अधिकारी आन्दोलनों जैसे सामाजिक समूह व आन्दोलन सत्तावादी सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति हेतु सफलतापूर्वक लामबंदी करते हैं।

4.7 समसामयिक विश्व में असमानता हेतु दलील

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया समानता एक सापेक्ष संकल्पना है और उसे विद्यमान असमानताओं के प्रसंग में समझना पड़ता है। असमानता सभी समाजों का एक सार्वभौम अभिलक्षण है और इसका प्रतिरोध सभी सामाजिक सम्बन्धों के प्रति बुनियादी रहा है। फिर भी असमानता अभी तक उन विभिन्न वैचारिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में समकालीन समाजों में विधिकृत है जो असमानता के सभी रूपों की आवश्यकता व वैधता की व्यख्या करती है। इस प्रकार समानता को समझने के लिए समानता के विरूद्ध तर्कों को समझना वांछनीय है। लोगों के बीच असमानता को जायज ठहराती परम्परागत विचारधारा के अधिकांश रूप लक्षणतः धार्मिक रहे हैं। उदाहरण के लिए सभी प्रमुख धर्म–चाहे हिन्दू–धर्म हो, बौध–धर्म हो या कन्यूशिअनिज्म एक प्रशिक्षण–अवधि एवं उन कर्मकाण्डों के पालन के माध्यमय से जो शुद्धता की गारण्टी देते थे। एक सांस्कृतिक अभिजात वर्ग तक ज्ञान के एक विशेष प्रतीक को पहुंचा देने में विश्वास करते थे। प्रत्यक्षतः सभी धर्म असमानता के अभिप्राय से ही जमे थे। यदि हिन्दू–धर्म वर्ण–व्यवस्था को उचित ठहराता था। यही बात ईसाइयत और इस्लाम के मामले में भी थी जहां दासता को स्वीकार किया जाता था। औद्योगिक पूंजीवादी समाजों के धर्म निरपेक्षीकरण के साथ ही धार्मिक असमानता सामाजिक रूप से कम महत्त्वपूर्ण हो गई। परन्तु इसने सामाजिक डार्विनवाद के नाम पर सही ठहराए जाने वाली प्रजातीय एवं आर्थिक असमानता को जन्म दिया जिसने 'उपयुक्ततम की उत्तरजीविता' सिद्धांत को एक विशेष महत्त्व प्रदान किया। यह विकास–सिद्धांत एवं प्राकृतिक चुनाव को मानव समाज के ऐतिहासिक विकास तक लाने का एक प्रयास था। जबकि यह आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धात्मक पूंजीवाद को सही ठहराता था। इसने अन्य प्रजातियों एवं समूहों पर श्वेत प्रजाति की नैसर्गिक श्रेष्ठता तथा प्राकृतिक विकास व चुनाव के तयशुदा कानूनों के एक अपरिहार्य परिणाम को जायज ठहराय। इसने प्रजातीय शुद्धिकरण एवं उन्मूलन नीतियों को सही ठहराते एक राजनीतिक दृष्टिकोण को जन्म देने हेतु मानवीय असमानता–सम्बन्धी फासीवादी सिद्धांतों का उत्कट रूप ले लिया।

तीसरे आधुनिक पूंजीवाद एवं उपयोगितावाद सम्बन्धी विख्यात् राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने भी असमानता को सही ठहराया। आर्थिक संघर्ष का यह दृष्टिकोण अधिकारात्मक व्यक्तिवाद उपलब्धि एवं पहलकारी के विचार से जुड़ा है। उपयोगितावाद से जुड़ा असमानता–सम्बन्धी आर्थित सिद्धांत पूंजीवादी समाज की आम संस्कृति के लिहाज से बुनियादी है। असमानता–सम्बन्धी राजनीति–सिद्धांतों एवं पण्यक्षेत्र से पैदा होने वाली असमानता–सम्बन्धी व्यापक आर्थिक विश्लेषण के बीच भेद करना मुश्किल है। लॉक के राजनीतिक तर्क असमान आधिपत्यों हेतु अधिकार पर आधारित थे। इसी प्रकार बाजार–सम्बन्धी एडम स्मिथ के आदर्श ने तीन महत्त्वपूर्ण सामाजिक वर्गों जो वेतनों पर निर्भर था। उसने असमानता–सम्बन्धी मुक्त–बाजार व्याख्याओं हेतु आधार प्रदान किया। खासकर आय असमानता के रूप में। यद्यपि स्मिथ की आर्थिक नीतियों की व्यापक आलोचना हुई। आधुनिक काल में मिल्टन फ्रीडमैन एवं एफ.ए. हयेक जैसे आर्थिक सिद्धांतवादियों द्वारा मुक्त–बाजार आर्थिक सिद्धांत–सम्बन्धी एक पुनर्जागरण रहा है जिनके सिद्धांत इच्छास्वातंत्रयवाद के रूप में पुनर्जीवित होती व्यापक अर्थव्यवस्थाओं में बहुत ही प्रभावी रहे हैं।

उपर्युक्त से परे समानता के विरूद्ध अनेक आम तर्क है। प्रथमतः यह तर्क दिया जाता है कि समानता के विभिन्न अवयव हैं जो परस्पर असंगत है। उदाहरण के लिए अवसर एवं दशाओं की समानता परिणामों की असमानता में परिणत होने की संभावना रखती है। क्योंकि यदि कोई समाज प्रतिस्पर्धात्मक है तो इसे असमानता पैदा करने वाला पाया जाता है। यह देखते हुए कि हरेक व्यक्ति विजेता नहीं हो सकता। अवसर–सम्बन्धी समानता का उदारवादी अर्थ असमानता में परिणत होने के लिए बाध्य है। दूसरे समानता–सम्बन्धी राजनीतिक योजनाएं व्यवहार्य नहीं है। दशाओं की परिवर्तनकारी समानता अथवा परिणाम की समानता सुनिश्चित करने के लिए एक सर्वसत्तावादी एवं अधिकारवादी राज्य–व्यवस्था में परिणत होते राज्य द्वारा व्यापक सामाजिक एवं राजनीतिक नियमनों की आवश्यकता पड़ती है। तीसरे समानता वांछनीय नहीं है क्योंकि समानता–प्राप्ति उन दूसरे मूल्यों के साथ असंगत हो सकती है जो समान रूप से ही वांछनीय होते हैं जैसे स्वतंत्रता। दशाओं की बराबरी समानता ला सकती है। परन्तु वह कुछ व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को सीमित कर देगी। चौथे स्तरीकरण–सम्बन्धी प्रकार्यात्मक सिद्धांत का विश्वास है कि कुछ सामाजिक पद ऐसे होते हैं जो पूरी समाज व्यवस्था के रखरखाव एवं निरंतरता के प्रति महत्त्वपूर्ण रूप से योगदान करते हैं। उन्हें अपने कार्य–सम्पादन के लिए विशेष कौशलों की आवश्यकता होती है। प्रतिभा को कौशल में बदलने के लिए भी कुछ समय के एक प्रशिक्षण अवधि की आवश्यकता पड़ती

है जिसमें प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरने वालों का त्याग शामिल होता है। इस प्रकार इन प्रकार्यात्मक पदों को सामाजिक प्रभेद के रूप में महत्त्वपूर्ण प्रलोभन रखने चाहिए जिसमें विशेषाधिकार एवं दुर्लभ पारितोशिकों तक अननुपातिक पहुंच शामिल हो। संक्षिप्ततः समाज उन अधिकारों व पारितोशिकों की भाषा में स्तरीकृत है जो लोगों को त्याग करने एवं उन सामाजिक भूमिकाओं हेतु प्रशिक्षण प्रक्रिया से गुजरने के लिए प्रेरित करते हैं जो मांगकारी हैं जबकि लाभकारी भी हैं। निष्कर्षतः विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच सामाजिक असमानता समाज की निरंतरता एवं रखरखाव हेतु सकारात्मक रूप से प्रकार्यात्मक है। चौथे यह सुझाव दिया जाता है कि आर्थिक लिहाज से असमानता के अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य हैं। समाज के लिए भी और विशिष्ट सामाजिक समूहों के लिए भी। उदाहरण के लिए कम वेतन और उससे जुड़ी गरीबी इस बात के जिम्मेदारा होंगे कि एक सुसम्पन्न समाज में 'कुत्सित कार्य' सम्पन्न किया जाए। यदि कोई व्यक्ति कार्य–विशेष पर ध्यान दिए बगैर वही आर्थिक वेतन पाता है तब कुत्सित अथवा प्रतिष्ठा घटाता कार्य कभी भी सम्पन्न नहीं होगा। गरीबी के कलंक की लोगों को काम के लिए बाध्य करने और सामान्य उत्पादकता में योगदान देने में एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक भूमिका है।

पांचवे धन–सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताएं उच्च व मध्य वर्गों के जीवन–स्तर के उनके जीवन को अधिक आरामदायक एवं आनन्ददायक बनाकर मूल्यपूर्ति करने में महत्त्वपूर्ण हैं। यह बात भी है कि निम्न वैतनिक सार्वजनिक क्षेत्र को परिदान देते हैं। क्योंकि वे आदर्श–स्वरूप जनसंख्या के उन जयादा सम्पन्न क्षेत्रासं की अपेक्षा करों में अपनी आय के अधिक प्रतिशत का योगदान देते हैं जो सामान्यतः लेखाकारों की सेवाएं लेकर और अपने रोजगार की दृष्टि से कर–छूटों का दावा करके कराधान से बचते हैं। असमानता के पक्षपोक्षक कड़े तर्क देते हैं जिनके अनुसार गरीब का वित्तीय महत्त्व डॉक्टरों, कल्याण सेवाओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं व धार्मिक सम्प्रदायों जैसे व्यावसायिक रोजगारों के प्रति उनके योगदान में भी पाया जाता है। चूंकि गरीब ही उन समूहों के मुख्य ग्राहक होते हैं। गरीब लोग न सिर्फ व्यावसायिक समूहों को वरन् आधि–व्यवसाय एवं वैश्यालयों को भी रोजगार प्रदान करते हैं। साथ ही गरीब दिन–पुरानी डबलरोटी व फल, सैकण्ड–हैण्ड कपड़े व घटिया स्तर की उपभोक्ता–वस्तुएं जैसी कुछ मदों की उपयोगिता को बढ़ाते हैं। संक्षिप्ततः, किसी न किसी प्रकार के असमानता चाहे धन–दौलत के रूप में हो या शक्ति अथवा प्रतिष्ठा के रूप में अपरिहार्य होने के साथ–साथ वांछित भी है।

4.8 समानता की मार्क्सवाद अवधारणा

मार्क्सवादी–लेनिनवादी दर्शन में समानता की परिभाषा है 'वर्गों का खात्मा और सभी के लिए समान सामाजिक स्थिति।' यह समाज में लोगों की अभिन्न स्थितियों, परन्तु भिन्न–भिन्न प्रसंगों में भिन्न–भिन्न ऐतिहासिक युगान्तर तथा भिन्न–भिन्न वर्गों के बीच को इंगित करती है। उदारवादी समाज में समानता को कानून के समक्ष समानता के रूप में लिया गया है जबकि आदमी द्वारा आदमी का शोषण, आर्थिक व राजनीतिक असमानता तथा कामगार लोगों के लिए अधिकारों का वास्तविक अभाव आदि अस्पृष्ट रहते हैं। उदारवादी सिद्धांत हर व्यक्ति के सम्पत्ति रखने के अधिकार से शुरू होता है, परन्तु मुख्य बात यानी उत्पादन साधनों के सम्बन्ध पर ध्यान नहीं दिया जाता है। मार्क्सवाद इस आधारवाक्य से शुरू होता है कि चाहे यह आर्थिक समानता हो यानी भौतिक समृद्धि के उत्पादन वितरण व उपभोग के क्षेत्र में राजनीतिक समानता हो यानी वर्गों, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अथवा सांस्कृतिक समानता यानी सांस्कृतिक मूल्यों के उत्पादन वितरण व उपभोग क्षेत्र में सभी शोषण वर्गों के उत्पादन व समापन साधनों के निजी स्वामित्व की समाप्ति के बगैर असम्भव हैं। जैसा कि मार्क्स ने लिखा, 'हम वर्गोन्मूलन चाहते हैं और इस अर्थ में हम सम्पन्न है।' इसी प्रकार एजेल्स ने लिखा कि समानता हेतु मांग या तो रूदन करती सामाजिक असमानताओं के खिलाफ अमीर व गरीब, सामंती शासकों व कृषिदासों, दासों व स्वामियों, छके हुए व भूल से मरते हुए के बीच अनुबंधों के खिलाफ स्वयं–जात प्रतिक्रिया रही है; अथवा मांग समानता एवं एक आन्दोलनकारी साधन के रूप में उठी है ताकि वर्ग को हानि पहुंचाने के लिए भी काम करना चाहिए जिनके अनुसा न तो लोकतंत्र होगा न ही अधिकार। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस प्रकार के वर्ग लागडाट के बावजूद पूरी तरह समाप्त नहीं होंगे। समष्टिकरण के पश्चात, स्टालिन का दावा था कि औद्योगिककर्मियों व किसानों के बीच आर्थिक विरोध और सामाजिक फासले घट रहे हैं और धुंधले पड़ रहे हैं। वर्ग अब भी अस्तित्व में थे। परन्तु वे अब सामंजस्यपूर्ण थे और एक वर्गरहित समाज में निर्माण से पूर्व करीब आने लगे थे। सभी नागरिकों के पास एक से राजनीतिक अधिकार थे; सभी को चुनावी मताधिकार और सोवियत के लिए निर्वासित होने हेतु योग्यता प्राप्त थी। दूसरी ओर अननुसारकों के लिए कोई समानता अथवा संभावित प्रतिपक्ष के लिए समान अवसर नहीं होते। एक ऐसा पहलू क्रांति के पश्चात् जिसकी रोजा लक्जमबर्ग द्वारा आलोचना की गई।

(तत्कालीन) सोवियत संघ के संविधान ने आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सोवियत नागरिकों की समानता के अधिकार लागू किए। क्रांति पश्चात् शुरू के वर्षों में राज्य की नीतियां समानता की दिशा में ही अभिजात थी। इसके उदाहरण थे हर प्रकार के काम के लिए प्रत्यक्षतः समान परिश्रमिक, समान रसद, सम्पत्ति का समकरण, पद व पदवियों की समाप्ति। तथापि तदोपरांत जब औद्योगिकरण शुरू हुआ, प्रौद्योगिकी की मांगों ने प्रशिक्षण तथा कुशल श्रमिकों का नियोजन व विशेषज्ञता आवश्यक कर दिए। आगे चलकर इसने बुद्धिजीवियों के एक नए वर्ग को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप अनेक वैज्ञानिकों, कलाकारों, अग्रणी पार्टी कार्यकर्त्ताओं, वरिष्ठ सरकारी कर्मचारी को कभी–कभी साधारण कर्मचारी की तुलना में लगभग 20–30 गुना अधिक वेतन दिया जाता था। 1930 के दशकांत में एक वर्ग प्राधार की स्थापना देखी गई जो उच्च रूप से भिन्न था।

स्टालिन युग की नितान्त असमानताएं सामान्य तौर पर न्यूनतम वेतन बढ़ाकर, उत्पादन साधनों के समाजीकरण, एक समान वेतन निर्धारित, उपभोक्ता वस्तुओं की एक अपेक्षाकृत मानकीकृत आपूर्ति आदि द्वारा दूर की गई। इसी प्रकार बुनियादी खाद्यपदार्थों, भाड़ों, लाने में बहुत मदद की। सामाजिक स्थिति व आय में अंतर भी कल्याणकारी सुविधाओं व उपलब्ध सेवाओं जैसे मुत स्वास्थ्य रक्षा, शशिगृहों, दिवस शिशु–शिक्षण संस्थानों आदि द्वारा कम किए गए हैं। महिलाओं की सम्पन्नता में काफी प्रगति हुई। पुनः 1956 में शिक्षण प्रतिष्ठानों में सभी तरह का शिक्षा–शुल्क माफ कर दिया गया। एक सुव्यवस्थित बृहद–स्तरीय विकास व शिक्षा–सुविधाओं के प्रोत्साहन ने कम से कम कानून में किसी भी सोवियत नागरिक को उसकी आवश्यकताओं व योग्यता के अनुसार शिक्षा पाने में समर्थ बना दिया। तथापि राजनीतिक क्षेत्र ने एक भिन्न चित्र प्रस्तुत किया। सरकार की व्यवस्था केन्द्रीकृत व सत्तावादी रही और पूरा का पूरा राजनीतिक क्षेत्र सी.पी.एस.यू. के पोलिटब्यूरो द्वारा नियंत्रित होता रहा। यह समूह उत्पादन साधनों व राष्ट्रीय संसाधन वितरण पर प्रत्यक्षतः नियंत्रण रखता था। सैद्धांतिक नीति बनाता था और प्रेस, रेडियो व टेलीविजन पर सख्त नियंत्रण द्वारा जनमत से काम लेता था। इसने जनसाधारण को विद्यमान असमानताओं व उनके कार्य से पूरी तरह वाकिफ होने से रोका।

पश्चिमी उदारवादी समाजों में जहां समानता की बतौर एक राजनीतिक व कानूनी सिद्धांत सांवैधानिक रूप से गारण्टी है इसके स्वीकरण अथवा इसके विरोध की ओर व्यक्ति के रूख को वैचारिक मत की एक कार्यव्यक्ति के रूप में सहन किया जाता है। सर्वाधिक भिन्न मत को सहन करना राजनीतिक समानता के सिद्धांत हेतु अनिवार्य है। उस सीमा तक तुलना किए जाने पर जहां तक कि इस प्रकार की मांग उदारवादी में अथवा साम्यवादी राज्य–व्यवस्थाओं में पूरी की गई हो, सोवियत मॉडल पर हम पाते हैं कि परवर्ती बहुत पीछे है।

जब व्यवहार में जो असमान हैं उनके दमन के रूप में असमानता में सही ठहराते हुए आह्वान करना चाहे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के माध्यम से अथवा किसी अन्य सत्तावादी राज्य–व्यवस्था के माध्यम से औद्योगिक समाज की सामान्य प्रवृत्ति की अनुकूलता से इतना परे है कि व्यक्ति मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित और तत्कालीन साम्यवादी राज्यों में प्रचलित आर्थिक व सामाजिक समानता के सिद्धांत पर संदेह करने को मजबूर हो जाता है।

4.9 सारांश

उपर्युक्त चर्चा से हम समानता की संकल्पना को निम्न प्रकार से समझ सकते हैं:

(1) समानता अनिवार्यतः आधुनिक और प्रगतिशील एक मूल्य और एक सिद्धांत है। यह राजनीतिक समतावाद के रूप में आधुनिकीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया से जुड़ी है। इसको उग्र–उन्मूलनवादी सामाजिक परिवर्तन के एक मापदण्ड के रूप में भी देखा जाता है। यह लोकतांत्रिक राजनीति के विकास से सम्बन्धित है।

(2) समानता को सिर्फ विद्यमान असमानताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है। सभी मानव समाज वर्ग, प्रतिष्ठा, ताकत व लिंग–सम्बन्धी किसी न किसी प्रकार की सामाजिक असमानताओं द्वारा अभिलक्षित हैं। समानता के बारे में बतलाते हुए जबकि लास्की ने इसको वंशानुगत विशेषाधिकारों, अवसरों की उपलब्धता व सामाजिक–आर्थिक लाभों हेतु सार्वभौम उपगम्य से जोड़ा, ब्रायन एस. टर्नर थोड़ा आगे गए हैं और समानता की बात अवसरों की उपलब्धता, शर्तों की समानता तथा नतीजे अथवा परिणामों की समानता के शब्दों में करते हैं।

(3) उदारवाद का उदय सामंतवाद एवं धार्मिक विशेषाधिकारों के खिलाफ लड़ने से जुड़ा हुआ था। यह सिर्फ कानूनी समानता की बात करता था जिसका मतलब था दो बातेंः कानून का शासन और कानून के समक्ष समानता। लोकतंत्र के आगमन ने राजनीतिक क्षेत्र में समानता का आह्वान किया यानी राजनीतिक–प्रक्रिया में भाग लेने हेतु हर नागरिक का अधिकार। यह सिद्धांत वोट देने के अधिकार, चुनावों में खड़े होने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने तथ जाति, वर्ण, लिंग, धर्म, भाषा आदि के आधार पर कोई भेदभाव न करने में व्यक्त किया गया। सामाजिक–आर्थिक समानताओं पर ध्यान मार्क्सवादी लेखकों द्वारा खींचा गया। जबकि मार्क्सवादी यह मानते थे कि समानता सिर्फ वर्गोन्मूलन तथा एक वर्गरहित समाज के निर्माण द्वारा ही लाई जा सकती है। उदारवादी लेखकों का दावा था कि इसको सामाजिक विधि–विधान एवं न्यूनतम वेतन कर माफी बेरोजगारी लाभ, मुत शिक्षा आदि के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। सामाजिक समानता जाति, मत, धर्म, भाषा, प्रजाति, लिंग, शिक्षा आदि पर आधारित भेदभावों की बात करती थी। समसामयिक उदारवादी संकल्पना को साम्यवाद में रखकर समझा जाता है।

(4) उदारवाद के भीतर एक दिलचस्प विवाद स्वतंत्रता एवं न्याय के साथ समानता के सम्बन्ध का रहा है। जबकि शुरूअती नकारात्मक उदारवाद समानता व स्वतंत्रता के बीच एक अन्तर्निहित संवाद देखता था और पूर्ववर्ती को परवर्ती के लिए खतरा मानता था। सकारात्मक उदारवाद नियमित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के माध्यम से स्वतंत्रता एवं समानता के बीच मेल–मिलाप में विश्वास रखता है। इसी प्रकार यद्यपि रॉल्स जैसे दार्शनिकों ने समानता को अपने न्याय–सम्बन्धी सिद्धांत का आधार बनाया है फिर भी वे असमानताओं के औचित्य–प्रतिपादन में तो भी इस शर्त के साथ नहीं हिचकिचाते हैं कि हम असमानताओं को समाज में न्यूनतम लाभांवितों की मदद करनी चाहिए।

(5) इस बात पर निरन्तर बहस होती रही है कि क्या उदारवादी देशों में पर्याप्त समानता आती है। काफी हद तक उदारवादी देशों में समानता की समस्या राजनीति व अर्थशास्त्र के बीच जटिल सम्बन्ध में उतरकर आती है। यद्यपि लोग कल्याणकारी राज्य के आगमन से पहले के मुकाबले सामाजिक रूप से अब ज्यादा सजक हैं फिर भी बल, प्रतिष्ठा व सम्पत्ति के लिहाज से बुनियादी असमानता कायम है। व्यावसायिक क्षेत्र में वंशानुगत अथवा व्यक्तिगत उपलब्धियों के माध्यम, दोनों से सम्पत्ति के वितरण में व्यापक असमानताएं हैं। सरकार एक कल्याणकारी राज्य होते हुए भी कल्याण एवं संसाधनों के पुनर्वितरण से इंकार नहीं कर सकती परन्तु उसी समय उसे एक मुक्त पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं पर ध्यान देना पड़ता है। हाल ही में, टैलकॉट पार्सन्स एवं किंग्सली डैविड जैसे अमेरिकी समाजवादी ने घोषणा की है कि असमानता सभी सामाजिक संगठनों के लिए एक आवश्यक शर्त है। असमानता के उद्गम की चिन्ता में पड़ने की बजाय उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया कि सामाजिक विशिष्टीकरण एवं स्तरीकरण सामाजिक प्राधारों के लिए अनिवार्य हैं। तथापि जबसे समानता सम्बन्धी धारणा का इतिहास काफी हद तक आन्तरायिक और कभी–कभी हिंसक रहा है। यह अभीष्ट है कि समानता पर बहस, हर नया संकल्प एक नई बहस हेतु शुरूआत के साथ, एक कभी न खत्म होने वाली बहस हो।

4.10 अभ्यास

1.समानता का अर्थ व प्रकृति तथा असमानता से उसका सम्बन्ध स्पष्ट करें।

2.समानता के विभिन्न आयामों पर चर्चा करें।

3.स्वतंत्रता व न्याय के साथ समानता का सम्बन्ध स्पष्ट करें।

4.समसामयिक समाजों में समानता की भूमिका पर चर्चा करें।

5.समसामयिक संसार में असमानता पर एक टिप्पणी लिखें।

6.समानता–सम्बन्धी मार्क्सवादी संकल्पना को स्पष्ट करें।

*****

अध्याय – 5
न्याय

अध्याय की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 न्याय विचार

5.2.1 प्रक्रियात्मक न्याय और सत्तावाची न्याय

5.2.2 आवश्यकताएं अधिकार और दण्ड–पुरस्कार

5.3 रॉल्स के सामाजिक न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी विद्धांत

5.3.1 उपयोगितावाद की समीक्षा

5.3.2 रॉल्स के न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी सिद्धांत

5.3.3 सामाजिक अनुबंध प्रक्रिया

5.3.4 समाज की मूल संरचना

5.4 रॉल्स की न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी संकल्पना की कुछ समालोचनाएं

5.4.1 इच्छास्वातंत्रयवादी समीक्षा

5.4.2 कुछ मार्क्सवादी समालोचनाएं

5.4.3 समुदायवादी समीक्षा

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास

5.1 प्रस्तावना

राजनीतिक व्यवहार व सिद्धांत में न्याय केन्द्रीय महत्त्व का है। सरकार के कानूनों, सार्वजनिक नीतियों तथा प्रशासनिक निर्णयों का समर्थन करने अथवा विरोध करने में न्यायेच्छा से ही प्रतिवेदन किए जाते हैं। न्याय का स्तुति–पूर्वक आह्वान राजनैतिक आन्दोलनों, नागरिक अवज्ञा तथा सत्याग्रह अभियानों में भी किया जाता है। इस प्रकार नागरिक अधिकार अथवा नागरिक अनुज्ञा आन्दोलन अनिवार्यतः न्यायार्थ आन्दोलन हैं। इसी प्रकार दलित, नारी–अधिकारवादी तथा पर्यावरण–सम्बन्धी आन्दोलन हैं।

जबकि एक शिष्ट अथवा योग्य समाज अथवा राज्य–व्यवस्था को अनेक सद्‌गुण अपनाने पड़ते हैं। न्याय एक व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार उन सब में अब्बल है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समसामयिक नैतिक व राजनीतिक तत्त्वज्ञ, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के जॉन रॉल्स के शब्दों में, ''न्याय ही सामाजिक संस्थाओं का सर्वप्रथम सद्‌गुण है।'' उन्होंने उक्त कथन अपनी पुस्तक ए थिअरी ऑफ जस्टिस में दिया जो 1971 में प्रकाशित हुई। कोई दो दशक पूर्व भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह उद्‌घोषित किया गया था कि भारतीय लोकतांत्रिक गणतंत्र अपने सभी नागरिकों के लिए ''न्याय, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक'' सुनिश्चत करने के लिए दृढ़–प्रतिज्ञा है। यह गौरतलब है कि यह प्रस्तावना सूची में न्याय को स्वतंत्रता, समानता व भाईचारे के अन्य नैतिक–राजनैतिक मूल्यों से ऊपर रखती है।

रॉल्स की पुस्तक ने जो अभिशिक्त किया उसे ठीक–ठीक ''न्याय विषयक सैद्धान्तीकरण में एक सुनहरा युग'' नाम दिया गया है। परिणामस्वरूप न्याय, जैसाकि टॉम कैम्पबैल द्वारा वर्णन किया गया। आज ''प्रचलित मुख्यधारा नियामक राजनीतिक–दर्शन की केन्द्रीय व आदेशकारी अवधारणा'' है। जॉन रॉल्स एण्ड दि एजेण्डा ऑफ सोशल जस्टिस शीर्षक से अपने सम्पादित ग्रंथ में बी.एन. राय अनुभव करते हैं कि रॉल्स की पुस्तक ने न्याय में न सिर्फ विद्वान–सम्बन्धी अभिरूचि को ही बल्कि जन–साधारण सम्बन्धी अभिरूचि को भी पुनर्नवीकृत किया है।

जबकि एक नैतिक–राजनैतिक मूल्य के रूप में न्याय की केन्द्रिकता के विषय में आम लोगों, राजनीतिज्ञों व तत्त्वज्ञों के बीच एक व्यापक सहमति है उनके बीच इसके अर्थ व विस्तार पर ऐसी कोई सहमति नहीं है। इन पर उदारवादी–उपयोगितावादी, उदारवादी–समतावादी (यथा, रॉल्सियन), इच्छास्वातंत्र्यवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी तथा नारी–अधिकारवादी सिद्धांतियों के दृष्टिकोणों में बहुत महत्त्वपूर्ण भेद हैं। उनमें से रॉल्स द्वारा प्रस्तावित सामाजिक न्याय–सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी सिद्धांत एक न्यायतः केन्द्रीय स्थिति पर रहने वाला सिद्ध हुआ है। वे जिन्होंने न्याय की वैकल्पिक अथवा स्पर्धारत परिकल्पनाओं को आगे बढ़ाया, रॉल्स के सिद्धांत की तुल्ना और विषमता में अपने गुण अथवा योग्यता को प्रस्तुत करने हेतु विवश महसूस करते हैं।

5.2 न्याय विचार

'न्याय' शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'जस्टिस' लैटिन शब्दों ज्युंगैर (रनदहमतम बांधना, एक साथ गांठ देना) और जस् (रने – एक बंधन अथवा गांठ) से प्युत्पन्न हुआ है। एक बांधती अथवा जोड़ती अवधारणा के रूप में न्याय हर व्यक्ति को अधिकारों व कर्तव्यों, पुरस्कारों व दण्डों का यथोचित हिस्सा बांटकर लोगों को सम्बन्धों की एक उपयुक्त अथवा उचित व्यवस्था के भीतर संगठित करने का काम करता है। रोमन सम्राट, जस्टीनियन ने न्याय के (लैटिन में) कुछ नीति–वाक्य निर्दिष्ट किए। जैसे ऑल्टरम नॉन लोदेर (सजमतनउ दवद समंकमतम – दूसरों को क्षति अथवा चोट न पहुंचाना) और सुअम कुइक ट्रिब्यूरे (ननउ बनपुनम जतपइनमतम – प्रत्येक जिसको जो यथोचित हो आबंटित करना)। न्याय–सम्बन्धी जस्टीनियन के नीति–वाक्य यूनानी दार्शनिक अरस्तू से प्राप्त किए गए थे जिसने न्याय को इस रूप में परिभाषित किया था। समानों का समानता से और असमानों का असमानता से उनकी असमानताओं के अनुपात में बरताव करना। उसने न्याय के तीन प्रकारों को भी पहचाना, नामतः वितरणकारी न्याय, दोश निवारक न्याय तथा क्रमविनिमेय न्याय (यथा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के बदले में तुल्य–परिणाम का न्याय)।

एक नैतिक–राजनैतिक मूल्य के रूप में न्याय ऐसे ही अन्य नैतिक–राजनैतिक मूल्यों से अन्तर्सबद्ध है जैसे स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा। किसी समाज अथवा राज्य को जो एक बुनियादी अर्थ में न्यायसंगत बनाता है वह है उसका हर व्यक्ति को उसके यथोचित अधिकारों व कर्त्तव्यों के साथ–साथ यथोचित पुरस्कार व दण्ड देकर मानवीय सम्बन्धों का उपयुक्त अथवा उचित विनियमन करना। न्याय यह काम स्वतंत्रता, समानता, सहयोजन, आदि सिद्धांतों के बीच समन्वय पैदा करके करता है। परम्परागत रूप से तब न्याय के सिद्धांत को एक ऐसा सिद्धांत माना जाता था जो स्वतंत्रता, समानता आदि सिद्धांतों को तौलता अथवा संगत बनाता है। इस प्रकार का तौलना अथवा संगत बनाना किसी निर्णायक मूल्य के संदर्भ में किया जाता है। उदाहरणार्थ अधिकतम लोगों की अधिकतम खुशी का मूल्य अथवा किसी समाज में सभी सदस्यों की आजादी और बराबरी का मूल्य। इस संदर्भ में प्रसंगतः यह गौर किया जा सकता है कि न्याय की तौलने अथवा संगत बनाने वाली प्रकृति ही है जिसका प्रतिनिधित्व चेतन रूप में वर्णित वह न्याय की मूर्ति करता है जो अपने हाथों में एक तराजू धारण किए रहती है।

5.2.1 प्रक्रियात्मक न्याय और सत्तावादी न्याय

न्याय की चर्चाओं में प्रक्रियात्मक न्याय और सत्तावादी न्याय में भेद किया जाता है। पूर्ववर्ती उन प्रक्रियाओं तथा क्रियाविधियों की न्यायसंगति अथवा औचित्य अथवा निष्पक्षता की ओर संकेत करता है जिनके माध्यम से किसी नियम अथवा नीति अथवा निर्णय पर पहुंचा जाता है और उसे प्रयोग में लाया जाता है। सत्तावादी न्याय नियमों, नीतियों, निर्णयों आदि की विषय–वस्तु अथवा परिणाम की न्यायसंगति अथवा औचित्य की ओर संकेत करता है।

प्रक्रियात्मक न्याय सिद्धांत पारंपरिक रूप से व्यक्तियों की ऐहिक समानता–सम्बन्धी धारणा पर आधारित रहे हैं। यथा मनुष्यों के रूप में अथवा विधि–विधान की प्रजा के रूप में लिंग, धर्म, प्रजाति, जाति, समृद्धि आदि में उनके भेदों पर ध्यान दिए बगैर। बहुधा, अधिकार–आधारित न्याय को प्रक्रियात्मक न्याय के रूप में देखा जाता है जबकि आवश्यकता–आधारित न्याय को सत्तावाची न्याय के रूप में देखा जाता है।

जॉन रॉल्स न्यायसंगत सामाजिक प्राथमिक वस्तु–वितरण सम्बन्धी जिनके सिद्धांतों पर हम नीचे विचार करेंगे का दावा है कि उनकी परिकल्पना ''विशुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय'' की परिकल्पना है। विशुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय से उनका तात्पर्य

है कि उनके वितरणकारी सिद्धांतों का न्याय–विचार उस प्रक्रिया के न्याय–यथा–औचित्य पर स्थापित है जिसके माध्यम से उनका नाम हुआ है और कि वे न्याय अथवा औचित्य का कोई स्वतंत्र अथवा पूर्ववर्ती मापदण्ड नहीं रखते। यदि वे सिद्धांत न्याय अथवा औचित्य सम्बन्धी इस प्रकार का स्वतंत्र अथवा पूर्ववर्ती मापदण्ड रख करते तो वे दोष्युक्त प्रक्रियात्मक न्याय के सिद्धांत हुआ करते। जैसा कि हम नीचे देखेंगे, रॉल्स के इच्छास्वातंत्रयवादी आलोचक, रॉबर्ट नोजिक, दावा करते हैं कि प्रथमोक्त की परिकल्पना वास्तव में कोई प्रक्रियात्मक परिकल्पना नहीं है बल्कि ''अंत्यावस्था'' अथवा ''गढ़े हुए'' न्याय–सम्बन्धी सिद्धांतों का एक सेट है।

5.2.2 आवश्यकताएं, अधिकार और दण्ड–पुरस्कार

ऊपर न्याय की अधिकार–आधारित व आवश्यकता–आधारित संकल्पनाओं का एक सरसरी संदर्भ दिया गया है। उनका क्या मतलब है और वे पुरस्कार–दण्डाधारित न्याय से किस प्रकार भिन्न है नीचे इंगित किया गया है।

आवश्यकता–आधारित न्याय का सबसे प्रसिद्ध प्रतिपादन मार्क्स का साम्यवाद सिद्धांत हैः ''हर एक अपनी योग्यता के अनुसार से हर एक अपनी आवश्यकता के अनुसार तक।'' सामान्यतया समाजशास्त्री एक न एक आवश्यकता–आधारित, समतावादी न्याय की व्याख्या को स्वीकार करते हैं। वे आवश्यकताओं, खासकर मूलभूत दैहिक आवश्यकताओं तथा अभावों, पसंदों अथवा इच्छाओं में भेद करते हैं। प्रथमोक्त को वस्तुपरक और सार्वत्रिक माना जाता है जबकि परवर्तियों को संस्कृति–आधारित और पण्य–आधारित समझा जाता है। अब्राहम मैसलो के अनुसार मानवीय आवश्यकताओं का एक तारतम्य है। निर्मल वायु, जल, भोजन, आश्रय हेतु हमारी सर्वाधिक मौलिक आवश्यकताओं से लेकर सुरक्षा, प्यार, आत्म–सम्मान व आत्म–बोध हेतु हमारी आवश्यकताओं तक जाहि है, आवश्यकता–आधारित न्याय राष्ट्रों के भीतर और उनके पार संसाधनों के साम्यवादी वितरण हेतु आह्वान करता है।

न्याय की अधिकार–आधारित संकल्पनाएं समतावादी, आवश्यकता–आधारित न्याय से भिन्न हैं। व्यापक उदारवाद के अनुसार (लॉक एवं ह्यूम), राज्य का मुख्य प्रकार्य व्यक्तियों के नकारात्मक स्वतंत्रता अधिकारों की रक्षा करना है। कल्याणकारी राज्य अथवा समतावादी उदारवादीजन नागरिकों के सकारात्मक स्वातंत्रय अथवा कल्याणकारी अधिकारों पर जोर देते हैं। आज के इच्छास्वातंत्रयवादी (उदाहरणार्थ, नोजिक) जो व्यापक उदारवाद के उत्तराधिकारी हैं। सामाजिक न्याय की एक हकदारी–केन्द्रित, गैर–समतावादी संकल्पना अपनाते हैं।

न्याय की दण्ड–पुरस्कार आधारित संकल्पनाओं का जब–तक ''प्राकृतिक न्याय'' के रूप में उल्लेख किया जाता है। यह अधिकार–आधारित न्याय की एक अनम्य गैर–साम्यवादी व्याख्या है। यह व्यक्तियों के उन प्राकृतिक गुण–दोषों अथवा सहज योग्यता की धारणा पर जोर देता है जिनको माना जाता है कि एक ईश्वर–प्रदत्त, प्राकृतिक, चीजों के अपरिवर्त्य क्रम के आधार का निर्माण करते हैं। एडमण्ड बर्क और हर्बर्ट स्पेंसर इन्हीं विचारों को मानते हैं। स्पेंसर की धारणा है कि हर व्यक्ति को ''अपने ही स्वभाव तथा संगत व्यवहार के लाभ और बुराइयां'' मिलनी चाहिए। ये विचार मुक्त–बाजार पूंजीवाद का एक रूढ़ीवादी, सामाजिक–डार्विनवादी बचाव पक्ष प्रस्तुत करने का काम करते हैं।

5.3 रॉल्स के सामाजिक न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी सिद्धांत

5.3.1 उपयोगितावाद की समीक्षा

सामाजिक न्याय सम्बन्धी रॉल्स के सिद्धांत अधिक से अधिक जनता की अधिक से अधिक सुख शांति के उदारवादी–उपयोगितावादी सिद्धांत का एक दोष निवारक है। तो फिर उपयोगितावाद के प्रति उसकी आपत्तियां क्या हैं?

रॉल्स का मानना है कि उदारवादी उपयोगितावाद ने व्यक्तिवादी अधिकारों के सहारे व्यापक उदारवाद के पूर्वाधिकार से एक प्रगतिशील, कल्याणाभिमुख प्रत्यन्तर को सूचित किया। फिर भी, उपयोगितावाद, रॉल्स के दृष्टिकोण से न्याय की एक दोषपूर्ण परिकल्पना है। इसका नैतिक दोष यह है कि वह वृहत्तम जनसंख्या की सुख–शांति की खातिर कुछ व्यक्तियों की भलाई के बलिदान को सही ठहराता है अथवा अनदेखी करता है। उपयोगितावादियों के अनुसार किसी समाज में न्याय का मापदण्ड उस उपयोगिता अथवा सुख–शांति अथवा कल्याण का कुल योग ही है जो वह उत्पन्न करता है न कि समाज के प्रत्येक सदस्य का कुशल–क्षेम अथवा कल्याण।

'उपयोगितावाद हेतु एक विकल्प' की अपनी समीक्षा में, रॉल्स को हर एक मनुष्य की स्वतंत्रता और समानता सम्बन्धी इमैन्युअल कैन्ट के नैतिक विचार से प्रेरणा मिलती है। कैन्ट के अनुसार, हर मनुष्य के साथ स्वयं में ही साध्य के रूप में व्यवहार किया जाना है न कि दूसरों के साध्यों हेतु साधन रूप में यह वो उदारवादी–समतावादी नैतिक सिद्धांत ही है जिसका उपयोगितावाद द्वारा उल्लंघन किया जाता है और रॉल्स सामाजिक न्याय–सम्बन्धी अपनी परिकल्पना में जिसे पूर्वावस्था में ही पुनर्स्थापित करते हैं। वितरणकारी अथवा सामाजिक न्याय सम्बन्धी सिद्धांतों पर पहुंचने की अपनी पद्धति अथवा कार्यविधि में और परिणामतः उन सिद्धांतों की विषय–वस्तु अथवा निष्कर्ष दोनों में ही रॉल्स हर एक व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता के नैतिक सिद्धांत को केन्द्रिकता प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

5.3.2 रॉल्स के न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी सिद्धांत

रॉल्स के अनुसार, एक स्थायी युक्तिसंगत रूप से धनी समाज ''परस्पर लाभ हेतु एक सहकारी साहस कार्य'' होता है। सहकारिता के साथ–साथ उसके सदस्यों के बीच सामाजिक जीवन–निर्वाह के दायित्वों व लाभों के अपने हिस्से को लेकर विचार–भिन्नता भी होती है। सामाजिक न्याय के सिद्धांतों का उदेश्य यह सुनिश्चित करना है कि समाज के लाभों व दायित्वों का वितरण उसके सभी सदस्यों हेतु न्यायसंगत व निष्पक्ष हो। समाज की आधारीय संस्थाओं का रॉल्य के अनुसार, निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि समाज के सभी सदस्यों हेतु ''सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं'' का निरन्तर वितरण एक निष्पक्ष अथवा न्यायसंगत रीति से सुनिश्चित हो। ''सामाजिक प्राथमिक वस्तुएं'' वे वस्तुएं हैं जो किसी समाज के बुनियादी ढांचे द्वारा वितरित की जाती हैं। इनमें शामिल हैं अधिकतर व स्वतंत्रताएं, शक्तियां व अवसर तथा आय व समृद्धि। रॉल्स का तर्क है कि एक समाज के सभी सदस्यों के बीच इन सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं का वितरण विधिसंगत होगा। यदि वितरण न्याय के निम्नलिखित सिद्धांतों के अनुसार किया जाता है :

सिद्धांत 1 : (समान मौलिक स्वतंत्रताओं का सिद्धांत):

हर व्यक्ति समान मौलिक स्वतंत्रताआं की एक पूर्णतः यथेष्ट कार्ययोजना हेतु अनन्य अलोप्य अध्यर्थ रखता है। कार्ययोजना जो कि सभी के लिए स्वतंत्रताओं की एक ही कार्ययोजना के अनुरूप हो।

सिद्धांत 2 : (2–1 : अवसर की निष्पक्ष समानता ; 2–2: मत–द्वैध सिद्धांत):

सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को दो शर्तें पूरी करनी होती है; प्रथम, उन्हें अवसर की निष्पक्ष समानता–सम्बन्धी शर्तों के तहत सभी हेतु आरक्षित कार्यालयों व पदों से जोड़ना होता है और दूसरे, उन्हें समाज के न्यूनतम–लाभान्वित सदस्यों के अधिकतम लाभार्थ हेतु बनाना होता है।

ये सिद्धांत यहां उनकी शाब्दिक प्राथमिकता के क्रम में सूचीबद्ध किए जाते हैं। ''शाब्दिक प्राथमिक'' से रॉल्स का तात्पर्य है कि अगला सिद्धांत लागू किए जाने से पहले प्रथम सिद्धांत पूरी तौर से संतुष्ट किया जाना अत्यावश्यक होता है। इसका अर्थ है उदाहरण के लिए कि ''स्वतंत्रता को सिर्फ स्वतंत्रता के आशय से ही प्रतिबंधित किया जा सकता है'', न कि, कहिए, आय अथवा समृद्धि की खातिर। यह वैसे इस संदर्भ में गौरतलब है कि रॉल्स का मानना है कि वह समाज जिसमें सामाजिक न्याय–सम्बन्धी उसके सिद्धांत लागू किए जाने हैं। ऐसा समाज है जो तर्कसंगत रूप से धनी है और जिसमें सभी की बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं का भरण–पोषण होता है।

प्राथमिक–सम्बन्धी नियम का मुख्य उदेश्य अन्य प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं की बजाय समान मौलिक स्वतंत्रताओं को अधिक महत्त्व देना है। ''मौलिक स्वतंत्रताओं'' में रॉल्स शामिल करते हैं– विवेक की स्वतंत्रता, विचार की स्वतंत्रता, निजी सम्पत्ति रखने सम्बन्धी अधिकार के साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता, यादृच्छिक बंदीकरण व नजरबंदी से स्वतंत्रता अथवा, दूसरे शब्दों में, कानून के शासन की स्वतंत्रता, भाषण व सभा की स्वतंत्रता तथा राजनीतिक स्वतंत्रताएं।

रॉल्स के अनुसार ये मौलिक अधिकार व स्वतंत्रताएं हमें अपनी ''दो उच्चतम–क्रम नैतिक शक्तियों'' का व्यवहार और बोध करने में समर्थ करती हैं, अर्थात् (1) न्याय–सिद्धांतों के अनुसार ही बातों को समझने, प्रयोग में लाने एवं व्यवहार करने की क्षमता और (2) भलाई की भावनाएं विकसित करने, संशोधनार्थ दोहराने और तत्परता के साथ कायम रखने हेतु क्षमता।

रॉल्स के दृष्टिकोण में एक विधिसंगत समाज के प्रत्येक सदस्य को इन दो नैतिक क्षमताओं के धारक के रूप में देखा जाना चाहिए। ये उन्हें स्वतंत्र व समान नागरिक बनाती हैं। नागरिकों की नैतिक समानता का अर्थ है कि ''उनमें हर कोई उन

सिद्धांतों को निर्धारित करने में समान आदर व सम्मान का अधिकार रखें और स्वयं को धारक के रूप में देखें। जिनके माध्यम से उनके समाज की आधारीय व्यवस्थाओं को नियमित किया जाना है।'' नागरिकों की स्वतंत्रता में उत्तम जीवन–सम्बन्धी उनकी अपनी धारणा को कायम रखने हेतु अपनी क्षमता का बोध करने की उनकी स्वतंत्रता शामिल है।

चूंकि सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं के वितरण को समाज के सभी सदस्यों की समानता एवं स्वतंत्रता एवं ''भाईचारे'' एवं कल्याण आदि का आदर करना पड़ेगा। यह कठोर नियम–निष्ठतः पटल के आरपार एक समान वितरण नहीं हो सकता। रॉल्स के अनुसर एक बार लोगों की बुनियादी भौतिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने के बाद मूल स्वतंत्रताओं सम्बन्धी उनके अधिकार को उन अन्य सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं हेतु उनके अधिकार से ऊपर प्राथमिकता दी जानी होती है तो समान–अवसर सिद्धांत तथा मत–द्वैध सिद्धांत द्वारा प्रतिपादित हैं। जबकि वह मौलिक स्वतंत्रताओं के किसी भी असमान वितरण के खिलाफ हैं। उनका मानना है कि आय व समृद्धि में कुछ असमानताएं अपरिहार्य और शायद अनिच्छित नहीं है। तदनुसार, सामाजिक न्याय–सम्बन्धी उसके दूसरे सिद्धांत का मुख्य उदेश्य असमानताओं को निष्पक्षता–रूपी–न्याय के बंधनों में रखता है। स्पष्टतः विधिसंगत अथवा उचित असमानताओं तथा विधिविरूद्ध अथवा अनुचित असमानताओं के बीच अंतर सामाजिक न्याय–सम्बन्धी रॉल्स के सिद्धांत में निर्णायक महत्त्व का है।

रॉल्स की धारणा है कि कोई समाज अपनी मौलिक संस्थाओं का निर्माण अथवा पुनिर्निमाण इस प्रकार की सकता है कि आय व समृद्धि में असमानताएं निम्नतम लाभांवितों हेतु अधिकतम लाभ उत्पन्न करें अधिकतम किसी तर्कसंगत, वैकल्पिक सामाजिक पुनर्स्थापना की तुलना में। उनके मत–द्वैध सिद्धांत का अर्थ आय क्रमों या समृद्धि में असमानता के स्थान पर समानता लाना नहीं है। बल्कि निम्नतम लाभांवितों के लाभों को अधिकतम सीमा तक बढ़ाकर आर्थिक असमानताओं की अनुचित अथवा विधिविरूद्ध क्रमों या श्रेणियों को एक उचित अथवा विधिसंगत क्रम या श्रेणी में बदल देना है। मत–द्वैध सिद्धांत के अनुसार वे असमानताएं जो खुशहालों के लिए तो लाभकर हैं, परन्तु निम्नतम लाभांवितों के लिए नहीं विधिविरूद्ध हैं।

रॉल्स के निष्पक्ष आवसरिक समानता–सम्बन्धी सिद्धांत की यह शर्त है कि राज्य शैक्षणिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिधियों में उचित समानता सुनिश्चित करने के साथ–साथ बेरोजगारी तथा अस्वस्थता लाभ भी प्रदान करें। स्कूल चलाने अथवा उनको आर्थिक सहायता देने, अर्थव्यवस्था को नियमित करने आदि के लिए इनको एक मध्यस्थतावादी, कल्याणकारी राज्य की आवश्यकता होती है।

न्याय के वे सिद्धांत जिन पर अभी तक हमने चर्चा की, कि रॉल्स द्वारा न्याय की एक ''आम'' अवधारणा के ''खास'' प्रतिपादनों के रूप में व्याख्या की गई है। इस आम अवधारणा को इस रूप में कहा गया हैः

सभी सामाजिक प्राथमिक वस्तुएं – स्वतंत्रता एवं अवसर, आय एवं समृद्धि तथा आत्म–सम्मान के आधार–समान रूप से वितरित की जानी हैं। जब तक कि इन वस्तुओं में से कोई अथवा सभी का एक असमान वितरण निम्नतम उपकृत के लाभार्थ न हो।

न्याय की इस आम अवधारणा से रॉल्स का जो तात्पर्य है वो यह है कि सिर्फ वही असमानताएं विधिविरूद्ध हैं जो जैसा कि उपयोगितावाद के उदाहरण में समाज के कुछ सदस्यों को एक प्रतिकूल अवस्था में रखते हैं।

न्याय की यह ''आम'' अवधारणा, बहरहाल, विभिन्न सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं के बीच भेद नहीं करती है। यह नहीं बतलाती, उदाहरण के लिए आय–वितरण और स्वतंत्रता–वितरण के बीच विवाद यदि कोई है तो कैसे हल करें। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए ही रॉल्स इस आम अवधारणा को उन दो सिद्धांतों को एक 'विशेष संकल्पना' में बांट देते हैं जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं।

5.3.3 सामाजिक अनुबंध प्रक्रिया

अब तक हमारा ध्यान रॉल्स में सामाजिक/वितरणकारी न्याय–सिद्धांतों पर केन्द्रित रहा। चलिए अब उन सिद्धांतों के बचाव–पक्ष में तर्क–सम्बन्धी उसकी रीति अथवा कार्यविधि की ओर मुख्तसरन रूख करते हैं। हमें क्यों, रॉल्स के अनुसार उनके सिद्धांतों को स्वीकार करना चाहिए। बेशक कुछ अन्य सिद्धांत (कहिए, उपयोगितावादी अथवा इच्छास्वातंत्रयवादी सिद्धांत) भी हैं। जैसे विधिसंगत अथवा निष्पक्ष वितरण–सम्बन्धी सिद्धांत।

संक्षिप्ततः कथित, रॉल्स का उत्तर यह है कि एक सामाजिक अनुबंध प्रणाली अथवा राजनीतिक मंत्रणा वाली कार्यविधि सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता व समानता के कैन्टियन उदारवादी–समतावादी नैतिक विचार का सम्मान करती है और कि इस प्रकार की प्रणाली अथवा कार्यविधि के माध्यम से हुआ समझौता अथवा उस अनुबंध विशेष के सभी पक्षों हेतु विधिसंगत अथवा उचित होता है। वह वस्तुतः इस प्रकार की कार्यविधि को ही अपनाते हैं और तर्क देते हैं कि सभी अनुबंधक वितरणकारी न्याय–सिद्धांतों के उपरोल्लिखित आम और खास प्रतिपादनों से सहमत होंगे– वे सिद्धांत जिनका वह सामाजिक न्याय के उदारवादी–लोकतांत्रिक–समतावादी सिद्धांतों के रूप में समर्थन व बचाव करते हैं।

उनका सामाजिक अनुबंध आनुमानिक है न कि ऐतिहासिक अथवा वास्तविक। इसका तात्पर्य सिर्फ एक परिकल्पित सभा अथवा ''परिवार–प्रमुखों'' की ''मूल अवस्था'' से है। वे परिकल्पनात्मक रूप से वितरणकारी न्यय के आम सिद्धांतों पर एक सहमति अथवा सामाजिक अनुबंध का अंग बनने के लिहाज से एकत्र होते हैं जिसके आधार पर उनके समाज की संस्थाओं का निर्माण किया जाना है।

अपने समझौते अथवा सामाजिक अनुबंध में पक्षपातशून्यता अथवा निष्पक्षता सुनिश्चित करने और व्यक्तियों की स्वतंत्रता और समानता सम्बन्धी नैतिक धारणा को समाविष्ट करने के उदेश्य से रॉल्स यह मानते हैं कि उनकी ''मूल अवस्था'' में अनुबंधक अपने सहजगुणों, वर्ग, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा भलाई सम्बन्धी अपनी संकल्पनाओं के बारे में एक ''अज्ञान के पर्दे'' में होते हैं। वे बहरहाल न्याय की सामान्य परिस्थितियों की जानकारी अवश्य रखते हैं। जैसे कि लोगों की सीमित परहितेच्छा और सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं की मात्रा को लेकर हितों में विचार भिन्नता। वे यह भी जानते हैं कि उस वास्तविक समाज में जिसमें उन्हें रहना पड़ता है वे शायद समाज के निम्नतम लाभांवित सदस्यों की स्थिति में ही पहुंच जाएंगे। वास्तविक स्थिति के विषय में यदि अनिश्चितता व्यक्त हो जिसमें एक अनुबंधक वास्तविक समाज में आ सकता है। उसके लिए (अनुबंधन स्थिति) यथा ''मूल अवस्था'' में यह मान लेना कि वह निम्नतम–लाभांवित स्थिति में पहुंच सकता अथवा सकती है और तदनुसार, वितरण का एक ऐसा आम सिद्धांत चुनना जो समाज के निम्नतम लाभांवित सदस्यों को अच्छे से अच्छा भाग दिलाए। प्रत्येक अनुबंधक दूसरे शब्दों में पसंद का ''न्यूनाधिक नियम'' अपनाता है जो कहता है कि एक अनिश्चय की स्थिति में आपको विकल्प इस प्रकार चुनना चाहिए कि आपकी न्यूनतम सम्भावनाएं अधिकतम सीमा तक बढ़ें।

एक साथ लिए जाने पर सामाजिक न्याय सम्बन्धी रॉल्स के सिद्धांत उनको शाब्दिक वरीयता के क्रम में रखे जाने पर कैन्ट की उदारवादी–समतावादी नैतिक निषेधाज्ञा को प्रस्तुत करते हैं। यथा कि मनुष्यों को हमेशा स्वयं में साध्य समझा जाएगा और कभी भी महज दूसरों के साध्यों का साधन नहीं। इस लिहाज से भलाई सम्बन्धी किसी बहुमतवादी अथवा उपयोगितावादी संकल्पनाओं की खातिर कुछ व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों व स्वतंत्रताओं को बलिदान नहीं किया जा सकता है। उदारवादी–उपयोगितावादी न्याय से भिन्न, रॉल्स का उदारवादी–समतावादी न्याय प्रत्येक व्यक्ति की समानता और कल्याण हेतु गंभीर चिंता द्वारा सूचित है जिसमें शामिल हैं, खासकर समाज के निम्नतम लाभांवित सदस्य।

5.3.4 समाज की मूल संरचना

रॉल्स ने प्रत्यायक रूप से दर्शाया है कि सामाजिक न्याय सामाजिक न्याय हेतु निर्णायक महत्त्व का है और कि उसको संविधान, विधि–संहिता, नीतियां, कानूनी प्रक्रियाएं आदि सूचित करने चाहिए। वास्तव में उनके अनुसार न्याय का मुख्य विषय समाज का मूल प्राधार ही है। सामाजिक न्याय सम्बन्धी उनका सिद्धांत उदारवादी लोकतंत्र एक नियमित पण्य अर्थव्यवस्था और उदारवादी–समतावादी कल्याणकारी राज्य को उचित सिद्ध करता है और उसके द्वारा उचित सिद्ध किया जाता है। उनका कहना है कि उनके विभेद सिद्धांत को व्यवहारपरक बनाने के लिए सरकार को चार शाखाएं रखनी चाहिए यथा (1) ''मूल्य प्रणाली को सुचारू रूप से प्रतिस्पर्धात्मक बनाए रखने और तर्कहीन पण्य शक्ति विरचन से बचाने हेतु'' एक आबंटन शाखा (2) तर्कसंगत रूप से पूर्ण रोजगार'' उत्पन्न करने हेतु एक स्थिरीकरण शाखा और पण्य अर्थव्यवस्था की सामर्थ्य कायम रखने हेतु, संयुक्त रूप से आबंटन शाखा के साथ; (3) ''आवश्यकता और एक उचित जीवन स्तर की मांगों'' से निबटने के लिए एक हस्तांतरण शाखा; तथा (4) कराधान मानदण्डों और स्वामित्व–अधिकारों में समायोजनों द्वारा वितरणात्मक शेयरों में उचित न्याय परिरक्षण हेतु एक वितरणकारी शाखा।

5.4 रॉल्स की न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी संकल्पना की कुछ समालोचनाएं

5.4.1 इच्छास्वातंत्रयवादी समीक्षा

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया सामाजिक न्याय–सम्बन्धी रॉल्स की उदारवादी–समतावादी संकल्पना समकालीन राजनीति–दर्शन में एक केन्द्रीय स्थान रखती है। परन्तु यह कोई चुनौतीहीन अथवा निर्विरोध संकल्पना नहीं है। अनेक राजनीतिक मर्मज्ञों ने इसकी आलोचना की है और न्याय की वैकल्पिक संकल्पनाओं को आगे बढ़ाया है। इन आलोचनाओं व विकल्पों में से कुछ का संकेत नीचे हैं।

रॉल्स की न्याय–सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी संकल्पना उनके परलोकगत सहकर्मी, रॉबर्ट नोजिक द्वारा की गई एक यथातथ्य समीक्षा का विषय बनाई गई है। अपनी पुस्तक, ऐर्नर्कि, स्टेट एण्ड यूटोपिया (1974) में नोजिक एक ओर न्याय की ''अन्त्यस्थिति'' व ''गढ़ती'' संकल्पनाओं और दूसरी ओर ''ऐतिहासिक'' व ''हकदारी–आधारित'' संकल्पनाओं के बीच भेद प्रकट करते हैं। पूर्ववर्ती प्रकार के न्याय किसी अंतिम–चरण लक्ष्य के नाम पर राज्य द्वारा सामाजिक पुनर्निमाण अथवा रचना कार्य किए जाने हेतु आह्वान करते हैं। रॉल्स की न्याय–सम्बन्धी संकल्पना, नोजिक के अनुसार, एक इस प्रकार की अन्त्यस्थिति और गढ़ती संकल्पना है, जो व्यक्तियों के स्वतंत्रता अधिकारों को गुप्त रूप से क्षति पहुंचाते हुए उनके प्रति अनुचित और अन्यायपूर्ण है। वितरण–सम्बन्धी किसी भी अन्त्यस्थिति अथवा गढ़े जाते सिद्धांतों को विहित करने की बजाय, नोजिक हमारी अधिकारस्थ सम्पत्तियों हेतु स्वत्वाधिकारों के अर्जन–सम्बन्धी इतिहास में न्याय अथवा अन्याय खोजते हैं।

उनके अनुसार व्यक्ति को सम्पत्ति रखने और उसे पण्यक्षेत्र में विनिमय करने समेत असीम स्वतंत्रता अधिकार हैं। इस बात पर ध्यान दिए बगैर कि अन्त्यास्थिति अथवा वितरण प्रतिमान को यह किसी ओर अभिमुख करे। इस न्याय–सम्बन्धी हकदारी सिद्धांत में हालांकि एक संशोधनकारी न्याय–सिद्धांत शामिल हैं जो सम्पत्ति के अर्जन अथवा हस्तांतरण में यदि कोई अतीत में हुए अन्यायों को सुधारने हेतु है। यह देखा जा सकता है कि न्याय–सम्बन्धी नोजिक की इच्छास्वातंत्रयवादी संकल्पना एक मुक्त–पण्य पूंजीवाद–सम्बन्धी प्रतिवाद है। जबकि राज्य के हस्तक्षेप से वैयक्तिक अधिकारों के प्रतिवाद पर यह वाग्मितापूर्ण है। अत्यंत धनाढय जन समाज अथवा निगमों द्वारा वैयक्तिक स्वातंत्रता अथवा समानता को गुप्त रूप से क्षति पहुंचाए जाने पर यह मौन है।

5.4.2 कुछ मार्क्सवादी समालोचनाएं

पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर निष्पक्ष अथवा न्यायसंगत वितरणों के साथ उनकी ध्यानमग्नता तथा पूंजीपतियों व कामगारों के बीच इसकी अन्तर्भूत अथवा अन्तर्निहित शोषणकारी अथवा विमुखकारी असमानताओं को बतलाने में उनकी विफलता के कारण अनेक मार्क्सवादीजन उदारवादी समतावादियों करते हैं। वह आदर्श पंचायती राज्यवादी समाज जो कि मार्क्सवाद उत्पादन–साधनों की निजी स्वामित्व व्यवस्था के विध्वंस के माध्यम से बनाना चाहता है एक ऐसे समाज के रूप में समझा जाता है जिसमें कोई अभाव नहीं, मानवीय परिहितेच्छा की कोई सीमा नहीं और कोई राज्य नहीं होगा। चूंकि रॉल्स की परिकल्पना के अनुसार सामाजिक प्राथमिक वस्तुओं का अभाव और मानवीय परहितेच्छा का सीमित स्वभाव ही ''न्याय की परिस्थितियां'' हैं। पंचायती राज्यवादी समाज में उनकी (फर्ज की गई) गैरमौजूदगी किन्हीं भी निष्पक्ष अथवा न्यायसंगत वितरण–सिद्धांतों को इस प्रकार के समाज के प्रति असंगत बना देती है। किसी भी इस प्रकार के न्यायविधान–सम्बन्धी, अधिरचनात्मक वितरणकारी सिद्धांत की बजाय, स्वायत्त शासन द्वारा परिकल्पित समाधिकार का उच्चतर स्वरूप इस सिद्धांत के अनुसार काम करेगाः ''हर एक से उसकी योग्यता के अनुसार हर एक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार।'' समाजवादी चरण में जो आगे आता है और उच्चतर व अंतिम साम्यवादी चरण को जन्म देता है। एक कार्य–आधारित अथवा योगदान–आधारित वितरण–सिद्धांत अभिभावी होगा।

असमानताओं के अपने ही प्रतिमान रखने वाले देशों में एक–एक करके अखिल रूसदेशीय प्रतिनिधि–महासभा (सोवियत) साम्यवाद की समाप्ति और ''उदारीकरण'' के उन्नति–क्रम ने अन्याय की ''परिस्थितियों'' के दूरीकरण हेतु मार्क्सवादी आशा के ''यथार्थवादी'' पर शंकाएं पैदा करने का काम किया है जिसमें सामाजिक अथवा वितरणकारी न्याय अप्रसांगिक है। दरअसल, परम्परागत मार्क्सवाद से अलग होकर कुछ समसामयिक मार्क्सवादीजन पूंजीपतियों द्वारा कामगारों से अतिरेक मूल्य निष्कर्षण किए जाने की अन्याय के एक व्युत्पन्न विधान के रूप में व्याख्या करते हैं जो उनके अनुसार, उत्पादन–साधनों हेतु पहुंच में एक पूर्ववर्ती और बृहत्तर अन्याय पर आधारित है। इस प्रकार उदारवादी–समतावादी सामाजिक न्याय की कार्यावली जो रॉल्स द्वारा आरम्भ की गई है। मार्क्सवाद पर कुछ प्रभाव रखती प्रतीत होती है।

5.4.3 समुदायवादी समीक्षा

समुदायवादी सिद्धांती जन रॉल्स की न्याय सम्बन्धी उदारवादी–समतावादी संकल्पना की आलोचना करते हैं कि समुदाय की भलाई की लागत पर वैयक्तिक अधिकारों पर जोर देती है। अपनी पुस्तक, लिबरॅलिज्म एण्ड द लिमिटस ऑफ जस्टिस (1982) में हार्वडी यूनिवर्सिटी के ही माइकैल सैण्डल उसकी आलोचना करते हैं जिसे वह रॉल्स की देह–मुक्त अथवा उऋण स्वयं–अथवा अहम्–सम्बन्धी धारणा पुकारते हैं जिसके विरोध में वह अवस्थित अहम की धारणा प्रस्तुत करते हैं। अर्थात वह स्वयं अहम जो किसी समुदाय का निरपवाद रूप से एक सदस्य है। जबकि रॉल्स के अनुसार अधिकार भलाई से पहले है और न्याय ही समाज का सर्वप्रथम नैतिक सदगुण है। सैण्डल के अनुसार, न्याय महज एक प्रतिकारक गुण है जिसकी एक व्यक्तिवादी समाज में आवश्यकता होती है। सैण्डल के अनुसार, इसके अलावा समुदाय की आम भलाई व्यक्तियों के अधिकारों से पहले है। चार्ल्स टेलर आप भी एक अग्रणी समुदायवादी राजनीति–मीमांसाकार हैं। स्वयं–सम्बन्धी उदारवाद की ''छिड़काई–यंत्रवादी'' संकल्पना पर शोक प्रकट करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का कल्याण उसके समुदाय की भलाई पर निर्भर करता है और इसी कारण, समूह–विशेष अथवा समुदाय–विशेष के सांस्कृतिक अधिकारों की मान्यता व सरंक्षण व्यक्तियों को स्वतंत्रता व समानता अधिकारों के न्याय–संगत वितरण की तुलना में कम महत्त्व का नहीं है।

5.5 सारांश

इस इकाई में आपने न्याय सम्बन्धी विचार एवं अवधारणा के विषय में पढ़ा। यह राजनीति–विज्ञान के साथ–साथ अन्य सामाजिक विज्ञानों में महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं में से एक है। न्याय के विभिन्न प्रकार है; यथा प्रक्रियात्मक तथा सत्तावाचक। न्याय के अधिकारक्षेत्र में सर्वाधिक लीक से हटकर की गई रचनाओं में एक जौन रॉल्स की रचना है। न्याय सम्बन्धी इसकी उदारवादी–समतावादी संकल्पना मूलरूप से न्याय सम्बन्धी उपयोगितावादी संकल्पना की समीक्षा है। निस्संदेह रॉल्स ने भी अपनी आलोचना दी है। इस प्रकार मार्क्सवादी उदारवादी तथा समाजवादियों ने विभिन्न आधारों पर रॉल्सियन ढांचे की आलोचना की है। जो चाहे सो हो रॉल्स की परिकल्पना का अपना ही प्रवहमान समसामयिक राजनीतिक प्रवचन है।

5.6 अभ्यास

1.न्याय की संकल्पना और अवधारणा को संक्षिप्त में स्पष्ट करें।

2.रॉल्स की सामाजिक न्याय–सम्बन्धी समतावादी संकल्पना की आलोचनात्मक जांच करें।

3.न्याय–सम्बन्धी रॉल्सियन संकल्पना पर एक टिप्पणी लिखें।

4.न्याय पर मार्क्सवादी विचारों की जांच करें।

5.न्याय–सम्बन्धी रॉल्सियन धारणा की समाजवादी समीक्षा पर एक टिप्पणी लिखें।

*****

अध्याय – 6
अधिकार

अध्याय की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 अधिकार : अर्थ और प्रकृति

6.2.1 अधिकार, दावे और शक्तियाँ

6.2.2 अधिकारों का अर्थ

6.2.3 अधिकारों की प्रकृति

6.3 अधिकारों की परिकल्पनाएँ

6.3.1 नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना

6.3.2 विधिसंगत अधिकारों की परिकल्पना

6.3.3 अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना

6.3.4 अधिकारों की समाज–कल्याण परिकल्पना

6.3.5 अधिकारों की मार्क्सवादी परिकल्पना

6.4 अधिकारों का गठन

6.4.1 जनसाधारण के अधिकार

6.4.2 लॉस्की की अधिकार–परिकल्पना

6.4.3 मानवाधिकारों की परिकल्पना

6.5 सारांश

6.6 अभ्यास

6.1 प्रस्तावना

अधिकारों को सटीक रूप से उन सामाजिक दावों के नाम से पुकारा जाता है, जो व्यक्ति को उनके सर्वोत्तम आदि सिद्ध करने में मदद करते हैं और उनको अपनी निजी पहचानों को विकसित में सहायता करते हैं। यदि लोकतंत्र को लोगों की सरकार बनना है तो उसको उनके हितार्थ अस्तित्व बनाए रखना पड़ता है। इस प्रकार की लोकतांत्रिक सरकार यदि अपनी प्रजा हेतु अधिकारों की एक व्यवस्था काया करती है, तो जन समाज की सर्वोत्तम सेवा कर सकती है। राज्य कभी अधिकार नहीं देते वे केवल उन्हें मान्यता देते हैं; सरकारें कभी अधिकार प्रदान नहीं करती, वे सिर्फ उन्हें संरक्षण देती है। अधिकार समाज से विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों से उद्‌भूत होते हैं और इसी कारण हमेशा सामाजिक होते हैं। अधिकारों व्यक्तियों के अधिकार होते हैं। वे व्यक्तियों से ही संबंध रखते हैं। वे व्यक्तियों के ही लिए अस्तित्व रखते हैं। इनका व्यवहार उनके द्वारा इसलिए किया जाता है ताकि वे अपनी निजी पहचानों का सम्पूर्ण विकासलाभ कर सकें।

6.2 अधिकार : अर्थ और प्रकृति

व्यक्तियों व राज्यों के बीव सम्बन्ध राजनति–सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है, एक ऐस प्रश्न जिसने युगों से राजनीति–दार्शनिकों को यदि उलझाया नहीं तो चकराया जरूर है। उन्होंने तर्क–वितर्क किया है कि कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है राज्य या व्यक्ति और कौन किसके लिए किस बात की ऋणी है। ऐसे दार्शनिक हुए हैं उदाहरणार्थ प्लेटो जिनका मानना है कि राज्य अकेले ही न्याय प्रदान कर सकता है और व्यक्ति का काम है अपनी योग्यताओं व क्षमताओं से अपने कर्तव्यों

को करने का भरसक प्रयास करे। हम इन दार्शनिकों को 'प्रत्ययवादी' कहते हैं। दूसरे भी हैं उदाहरणार्थ जॉन लॉक जो यह दृष्टिकोण रखते हैं कि राज्य साधन रूप में एक साध्य हेतु अस्तित्व में है और यह साध्य है व्यक्ति जिसका अर्थ यह हुआ कि वैयक्तिक अधिकार परमपावन और अलंघ्य है। यह तथ्य कि व्यक्ति अधिकार रखते हैं आधुनिक युग की एक दृभटघटना है जो कि 15वीं–16वीं शताब्दी के यूरोप के शुरू हुई। यह तथ्य कि ये अधिकार राजय की निरंकुशता के विरूद्ध आश्वासन हैं और इसलिए वे अपना आदिकरण समाज में रखते हैं ऐसी बातें हैं जो सिर्फ आधुनिक युग में ही जानी गई।

अधिकार व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं और इसीलिए वे राज्य के नहीं होते। अधिकार व्यक्तियों के अधिकार हैं और इसीलिए वे उनके विकासार्थ आवश्यक शर्तें हैं। अधिकार हमारे सामाजिक स्वभाव की ही उपज हैं और इसी प्रकार समाज–सम्बन्धी हमारी सदस्यता का परिणाम भी।

6.2.1 अधिकार, दावे और शक्तियाँ

अधिकार वस्तुतः दावे हैं, परन्तु हर दावा अधिकार नहीं होता। कोई भी दावा अधिकार नहीं है, यदि वह मान्यता प्राप्त नहीं है। वह अधिकार भी नहीं कहलाएगा यदि वह कानून मानने के लिए बाध्य नहीं है। वे दावे जो मान्यता प्राप्त नहीं हैं थोथे दावे हैं, कानूनी रूप से जो बाध्य नहीं है, वे शक्तिहीन दावे हैं दावे जब समाज द्वारा मान्य हो जाते हैं तो अधिकार बन जाते हैं वे जब राज्य द्वार माने जाते और लागू किए जाते हैं तो अधिकार बन जाते हैं।

अधिकार महज़ दावे नहीं है वे सामाजिक दावे हैं। वे दावे नहीं है, परन्तु वे दावों की प्रकृति में ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दावे जो स्वभावतः हैं सिर्फ वही अधिकार है। वहाँ कोई अधिकार नहीं जहाँ कोई समाज नहीं। प्रकृति के राज्य में जन्मजात अधिकारों के विषय में बात करना जैसा कि सामाजिक संविदा सिद्धां के पक्षधरों ने दावा किया महज़ एक मिथ्या नाम प्रयोग है। सामाजिक दावों के रूप में अधिकार अधिकार है, क्योंकि वे सामाजिक हैं समाज में अस्तित्व रखते हैं क्योंकि समाज अस्तित्व में रहता है और क्योंकि सिर्फ समाज ही उन्हें प्रदान करता है तथा समाज इन्हें उनको प्रदान करता है जो उसके सदस्य है। अधिकार समाज के सदस्यों के रूप में इन व्यक्तियों को दिए गए सामाजिक दावे हैं और उन कर्तव्यों की अनुक्रिया स्वरूप पुरस्कारों के रूप में होते हैं जिनका व्यक्तियों ने पालन किया है। अधिकार सामाजिक होते हैं क्योंकि उनके दावे समाज को मजबूत बनाने हेतु आवश्यक होते हैं और तदानुसार अधिकार कभी समाज के विरुद्ध नहीं होते हैं। कोई भी समाज–विरुद्ध अधिकार अस्तित्व में नहीं है।

सामाजिक दावों के रूप में अधिकारों को एक और प्रयोजनीय वस्तु रखनी होती है। उन्हें कायम रखना होता है लागू करना होता है और संरक्षित करना होता है। यहीं राज्य की संस्था के पास निभाने को एक निश्चित भूमिका है। एक समाज ही है न कि राज्य जो व्यक्तियों को उनके कर्तव्य पालन कर लेने के बाद उनके अधिकारों से उन्हें पुरस्कृत करता है। राज्य समाज में उन्हें हर एक को प्रदान कर अधिकारों का ढाँचा कामय रखता है राज्य व्यक्तियों के अधिकारों को उनके हितों में और कार्यकारी अधिकारियों अन्य व्यक्तियों व व्यक्ति–समूहों द्वारा अतिक्रमणों के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करता है।

अधिकार सामाजिक दावे हैं वे शक्तियाँ नहीं है। अधिकारों व शक्तियों में भेद करना पड़ता हैं प्रकृति ने हर व्यक्ति को अपनी आवश्यकतों की तुष्टि करने हेतु शक्ति की एक निश्चित मात्रा बख्शी है। शक्ति एक शारीरिक बल है यह विशुद्ध ऊर्जा है। मात्र बल के आधार पर अधिकारों की कोई व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती। यदि कोई व्यक्ति के पास शक्ति है आवश्यक नहीं कि इसका अर्थ है कि उसके पास अधिकार है। समाज के एक सदस्य के रूप में एक सामाजिक प्राणी के रूप में उसके पास अधिकार है। एक पृथक्त व्यक्ति कोई अधिकार नहीं रखता वह जो रखता/रखती है वह ऊर्जा शारीरिक बल व प्रक्रम है। व्यक्तियों के रूप में हम शक्तियां रखते हैं सामाजिक प्राणियों के रूप में यथा समाज के सदस्यों के रूप में हम अधिकार रखते हैं। इसी प्रकार पृथक्त व्यक्तियों के रूप में हम कोई अधिकार नहीं रखते और सामाजिक प्राणियों के रूप में हम कोई भी शक्ति अपनी मर्जी से कुछ भी कहने अथवा कार्य करने या आचरण करने का अधिकार नहीं रखते।

समाज के सदस्यों के रूप में हमारा अस्तित्व होना मात्र ही हमारे लिए अधिकारों को सुनिश्चित कर देता है। अधिकार जब दूसरों द्वारा इस रूप में मान्यता प्राप्त होते हैं। तभी वे अधिकार होते हैं। वे उसके बाद व्यक्तियों हेतु सामाजिक रूप से आवश्यक होने वाली शक्तियां होते है। हॉबहाउस का उदाहरण है, अधिकार वे हैं जो हम दूसरों से अपेक्षा करते

हैं और दसूरे हमसे साथ ही सभी यथार्थ अधिकार समाज–कल्याण की शर्तें है। इस प्रकार वे अधिकार जिनका कि कोई दावा कर सकता है। अंशतः वे हैं जो उस प्रकार्य के परिपालन हेतु आवश्यक हैं जिसकी समाज उससे अपेक्षा करता है। वे उसके सामाजिक दायित्वों द्वारा उसके सहसम्बन्धी प्रतिबंधित है।

अधिकार समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों से प्रकट होते है। वे इस मान्यता से उभरते हैं कि एक परम कल्याण है जहां तक कि प्रत्येक व्यष्टि में अन्तर्निहित शक्तियों के विकास द्वारा ही पहुँचा जा सकता है।

अधिकार व्यक्तियों के अन्ततोगत्वा मान्यता प्राप्त व विधिसम्मतरूप से कायम सामाजिक दावे हैं। समाज के अतिरिक्त ऐसे कोई दावे नहीं जिनके लिए व्यक्ति मांग कर सकें। राज्य के अतिरिक्त ऐसे कोई व्यक्तियों के अधिकार नहीं जिनके संरक्षण की कभी कोई अपेक्षा की जाए। समाज हमें अधिकार प्रदान करता है और राज्य उन्हें संरक्षण पदान करता है।

6.2.2 अधिकारों का अर्थ

अधिकार दावे हैं मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सामाजिक दावे। ये वो हकदारियाँ नहीं है जो किसी व्यक्ति के इख्तियार में हैं। प्राचीन एवं मध्यकाल में कुछ लोग विशेषाधिकारों का उपभोग करने के हकदार थे। परन्तु इस विशेषाधिकारों को कोई भी अधिकारों का नाम नहीं दे सकता था। अधिकार प्राधिकार नहीं है, क्योंकि वे हकदारियां नहीं है। अधिकारों व प्राधिकारों के बीच अन्तर होता है अधिकार दूसरों पर हमारे दावे हैं जिस प्रकार हम पर दूसरों के दावें है दूसरी ओर हकदारियाँ कुछ को प्रदत्त को देने से इंकार किए गए विशेषाधिकार हैं। अधिकार इस अर्थ में सार्वत्रिक हैं कि वे सभी के लिए आश्वासित हैं प्राधिकार सार्वत्रिक नहीं होते क्योंकि वे कुछ ही के पास होते हैं। अधिकार बिना किसी भेदभाव के सभी को दिए जाते हैं प्राधिकार कुछ ही को दिए जाते हैं कुछ चुनिंदा लोगों को ही। अधिकार न्यायपूर्ण दावे की विषयवस्तु के रूप में प्राप्त किए जाते हैं प्राधिकार संरक्षण की विषयवस्तु के रूप में। अधिकार लोकतांत्रिक समाजों में उत्पन्न होते हैं। प्राधिकार आलोकतांत्रिक पद्धतियों के अभिलक्षण हैं।

अधिकारों की विभिन्न परिभाषाएँ, अधिकार जो है उसके महज एक आंशिक पहलू का ही जिक्र करती हैं। जैफर्सन की यह घोषणा कि मनुष्य अपने सृष्टा द्वारा कुछ निश्चित अहस्तांतरीय अधिकारों से सम्पन्न किए गए हैं एक ऐसी घोषणा थी जिसने अधिकारों की नैसर्गिकता का संकेत दिया यथा मनुष्य अधिकार रखते हैं क्योंकि वे प्रकृति से मानव हैं। यह बात कि आदमी अधिकार रखते हैं अथवा यह कि उन्हें अधिकार रखने चाहिए। एक ऐसा सत्य है जिस पर कोई भी प्रतिवाद नहीं करेगा। परन्तु यह तथ्य इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं कहता। इस तथ्य में कोई परिभाषा नहीं बताई गई है। हॉलैण्ड अधिकारों को इस रूप में परिभाषित करते हैं दूसरों के कर्म को प्रभावित करने की एक आदमी की क्षमात उसकी अपनी शक्ति से नहीं वरन् समाज की शक्ति से। उनकी परिभाषा अधिकारों का वर्णन समाज द्वारा एक आदमी के सुखी बनाए गए कार्यकलापों के रूप में करती है जिसका अर्थ है कि हॉलैण्ड अधिकारों का सिर्फ एक सामाजिक दावे के रूप में वर्णन कर रहे हैं। इस बात को कि एक अधिकारों की परिभाषा में अधिकारों के अन्य पहलू भी होते हैं उचित स्थान नहीं दिया गया है। विल्डे अधिकारों की परिभाषा में सामाजिक दावा पहलू को एक अस्थायी विवेचन देते हैं, जब वह कहते हैं : एक अधिकार कुछ निश्चित कार्यकलापों के व्यवहार में स्वतंत्रता हेतु एक तर्कसंगत दावा है। बोसांक व लास्की अधिकारों की अपनी परिभाषाओं में समाज और राज्य व आदमी के व्यक्तित्व की स्थितियों को शामिल करते हैं, परन्तु वे भी अधिकारों के एक भाग के रूप में कर्तव्य के महत्वपूर्ण पहलू को नामंजूर करते हैं। बोसांक कहते हैं, अधिकार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त और राज्य द्वारा लागू किया गया एक दावा होता है। लास्की के अनुसार अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएं हैं जिनके बगैर कोई आदमी सामान्य रूप से अपनी अच्छी से अच्छी दशा में होने का प्रयास नहीं कर सकता।

अधिकारों की एक कारगर परिभाषा में कुछ निश्चित पहलू होने चाहिए। इनमें सामाजिक दावा एक ऐसा दावा है जिसका अर्थ कि अधिकार समाज में ही जन्म लेते हैं इसी कारण माज से पहले समाज से ऊपर और समाज विरुद्ध कोई नहीं होता। अधिकारों का एक अन्य पहले है व्यक्तित्व का विकास पहलू जिसका अर्थ है कि अधिकार व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं और वे एक महत्वपूर्ण अवयव होते हैं जो अमुक के व्यक्तित्व के विकास में मदद करते हैं– इस पहलू में सरकार का विरोध करने हेतु व्यक्ति का अधिकार शामिल है यदि सरकार का कार्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विपरीत है। अधिकारों की परिभाषा में इसके अतिरिक्त अधिकारों के ढाँचे में राज्य की भूमिका जरूर शामिल करनी पड़ती है। यह पहलू

इस तथ्य पर जोर डालता है कि राज्य अधिकार प्रदान नहीं करता वह केवल उन्हें कायम रखता है। लास्की ने कहा कि कोई भी राज्य उन्हीं अधिकारों से पहचाना जाता है जिनको वह कायम रखता है। अधिकार न्यायपूर्ण हक है क्योंकि वे राजनैतिक रूप से मान्यता प्राप्त है। अधिकार सामाजिक रूप से स्वीकृत दावें हैं जहाँ तक कि उनके आगे वे कर्तव्य चलते हैं जो एक व्यक्ति समाज के एक सदस्य के रूप में रखता है। कर्तव्य अधिकारों से पहले आते हैं न कि उनके बाद। यह बात इस तात्पर्य से है कि कर्तव्य अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण है तथा यही बात है जो अधिकारों को उनकी प्रकृति व उनके व्यवहार से परिसीमित करती है। कोई अधिकार सम्पूर्ण नहीं होता सम्पूर्ण अधिकार इस सम्बन्ध में एक असंगति हैं। स्वतंत्रताओं के रूप में अधिकारों व दावों के रूप में अधिकारों के बीच अन्तर सामाजिक व राजनैतिक सिद्धांत हेतु महत्वपूर्ण विषयवस्तु बन चुका है जैसा कि रेफैल निश्चपूर्वक ठीक ही कहते हैं।

6.2.3 अधिकारों की प्रकृति

अभी तक जिस बात पर चर्चा की गई उसके आधार पर अधिकारों के मूल में क्या निहित है यह जानना प्रत्युत सरल है। अधिकारों की प्रकृति अधिकारों के ही नितांत अभिप्राय में निहित है।

अधिकार सिर्फ दावे नहीं है वे दावों के रूप में है। अधिकार दावे है परन्तु सभी दावे अधिकार नहीं होते। अधिकार वे दावे हैं जो रूप में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है। बिना इस मान्यता के अधिकार खोखले दावे हैं। समाज स्वभावतः संगठित है और कोई भी व्यक्ति जाहिर तौर पर उससे परे कोई अधिकार नहीं रख सकता है जो कि समाज स्वीकार करता है। अधिकार सामाजिक दावों के रूप में मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक परिस्थितियां पैदा करते हैं। ये परिस्थितियां पैदा की जाती हैं ये बनाई जाती हैं और ये प्रदान की जाती है। राज्य समाज से भिन्न इन परिस्थितियों को पैदा और प्रदान करता है तथा बनाता है। राज्य परिस्थितियों को जन्म देकर अधिकार को संभव बनाता है। यह इसीलिए एक ऐसा आधार प्रदान करता है जहाँ अधिकारों का उपभोग किया जा सके। यह अधिकारों का जन्मदाता ही नहीं है वरन अधिकारों का एकमात्र संरक्षक और अभिरक्षक भी है। व्यक्ति विशेष को छीन लेना राज्य के अधिकार–क्षेत्र में नहीं आता।

व्यक्तियों के विकासार्थ आवश्यक परिस्थितियों के तात्पर्य से यदि राज्य अधिकारों को बनाए रखने में विफल रहता है तो वह उनकी निष्ठा पर अपने दावे का अधिकार खो देते है।

अधिकार उस समाज के प्रति अनुक्रियाएं हैं जहाँ वे अस्तित्व रखते हैं। अधिकारों की विषयवस्तु एक विशिष्ट समय व स्थान पर समाज की रीति व लोकाचार पर बहुत वृहत् रूप से निर्भर है। जिस प्रकार समाज व उसकी परिस्थितियाँ बदलती हैं उसी प्रकार अधिकारों की विषयवस्तु भी बदलती है। यह इसी अभिप्राय से है कि हम कहते हैं कि अधिकार परिवर्तनशील है। ऐसे किन्हीं अधिकारों की सूची जो आने वाले सभी कालों हेतु सार्वत्रिक रूप से व्यवहार्य हो कभी प्रतिपादित नहीं की जा सकती है।

अधिकार उस कार्य के प्रति अनुक्रियाएं हैं जो हम करते हैं। वे लाभों अथवा पुरस्कारों का स्वभाव लिए होते हैं। वे हमें तब दिए जाते हैं जब हमने समाज को दूसरों को कुछ दिया हो। यह उसको स्वीकार करने बाद है जो हम मानते हैं। अधिकार हमारे कर्तव्यों के लाभ मात्र नहीं है वे वस्तुतः हम जो कार्यसंपादन करते हैं उससे सम्बन्ध रखता है। अधिकार ही वे प्रतिफल हैं जो दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों के अनुपालन के प्रत्युत्तर में हमें उनके द्वारा दिए जाते हैं।

अधिकार स्वभावतः सम्पूर्ण नहीं है। समाज के सदस्य रूप में व्यक्ति का कल्याण व्यक्ति रूप में उनके अधिकारों व उस समाज के हित के बीच एक समझौते में निहित है जिससे वे सम्बन्ध रखते हैं। एक अधिकारों की सूची में यह तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि ऐसी कोई विषयवस्तु नहीं हो सकती है जो उच्छृंखल की भाँति ऐसी अप्रतिबद्ध हो कि समाज में अराजकता और गड़बड़ी में सहायक सिद्ध हो।

6.3 अधिकारों की परिकल्पनाएँ

अधिकारों के ऐसे अनेक सिद्धांत है जो उनकी प्रकृति उत्पत्ति और अर्थ स्पष्ट करते हैं। नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना अधिकारों का वर्णन प्रकृति रूप में करती है कानूनी अधिकारों की परिकल्पना अधिकारों को विधि–संगत रूप में पहचानती हैं। अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना अधिकारों को परम्पराओं व प्रथाओं के परिणाम रूप में सुनिर्दिष्ट

करती हैं आदर्शवादी परिकल्पना वैध–अधिकार सिद्धांत की ही भाँति अधिकारों का सम्बन्ध सिर्फ राज्य से जोड़ती है अधिकारों की समाज–कल्याण परिकल्पना अधिकारों को समाज– सम्बन्धी मानती है जो कि व्यक्ति व समाज दोनों के हित में व्यवहार किए जाने होते हैं।

अधिकारों का विकास जिस रूप में हम पाते हैं उसकी शुरुआत बड़ी संकुचित रही। नागरिक अधिकार संविदात्मकतावादियों के सहारे परम्पराओं के परिणामस्वरूप अधिकार इतिहासवादियों के सहारे कानून द्वारा विहित अधिकार विधिवेताओं के सहारे राजनैतिक अधिकार लोकतंत्रवादियों के सहारे सामाजिक अधिकार समाजशास्त्रियों व बहुवादियों के सहारे सामाजिक–आर्थिक अधिकार समाजवादियों व मार्क्सवादियों के सहारे मानव अधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिवक्ताओं के सहारे। यह व्याख्या इस बात का अधिसरलीकरण करती है कि हमारे अधिकार क्या है और वे हम तक कैसे पहुँचे हैं।

6.3.1 नैसर्गिक अधिकारों की परिकल्पना

नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांत की वकालत मुख्यतः थॉमस हॉबल जॉन लॉक तथा जे0 जे0 रूसो द्वारा की गई है। ये संविदात्मकतावादियों ने सामाजिक संविदा सिद्धांत देने के उपरांत यह दृष्टिकोण अपनाया कि प्राकृत अवस्था में मनुष्यों द्वारा अनुप्राणित नैसर्गिक अधिकार अस्तित्व में थे और ये अधिकार व्यक्तियों में इस रूप में गुणारोपित किए गए थे मानो वे मनुष्य रूप में मनुष्यों के अनिवार्य गुणधर्म हों। संविदात्मकतावादियों ने इसी कारण घोषित किया कि अधिकार अहस्तान्तरीय अहार्य और अलोप्य हैं।

नैसर्गिक अधिकार सिद्धांत की अनेक आधारों परआलोचना की जाती है। अधिकार मात्र इसलिए नैसर्गिक नहीं हो सकते हैं कि वे प्राकृत अवस्था में मनुष्यों की सम्पत्ति थे। समाज के उदय होने से पूर्व कभी भी कोई अधिकार जन्म नहीं ले सकता समाज–पूर्व अधिकारों की धारणा इस सम्बन्ध में असंगत है। प्राकृत अवस्था में सदैव यदि कुछ रहा तो वे मात्र शारीरिक ऊर्जाएँ थीं न कि अधिकार। अधिकार अपने संरक्षण हेतु किसी प्राधिकार के अस्तित्व को पहले ही मानकर चलते हैं। प्राकृत अवस्था में जहां किसी राज्य का अस्तित्व नहीं था एक राज्य की अनुपस्थिति में कोई भला कैसे अधिकारों की कल्पना कर सकता है। प्राकृत अवस्था में लोगों के अधिकारों की रक्षा कौन करता? संविदात्मकतावादियों के पास उत्तर नहीं है। यह कहना कि नैसर्गिक अधिकार प्राकृत अवस्था में अस्तित्व में थे उन्हें समाज के नियंत्रण से अप्रसिद्ध अथवा परे रखना है। बैन्थम के अनुसार नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धांत पैरबांसों पर खड़ा एक वाग्मितापूर्ण बकवास था। लास्की भी नैसर्गिक अधिकारों की समस्त धारणा को निरस्त करते हैं। अधिकार नैसर्गिक अधिकारों के रूप में मिथ्या कल्पनाओं पर आधारित हैं कि हम समाज से स्वतंत्र रूप से अधिकार व कर्तव्य रख सकते हैं। बुर्के ने यह संकेत किया था बेशक भावपूर्ण ढंग से ही जब उसने कहा कि हम एक ही साथ सभ्य और असभ्य राजय के अधिकारों व उपभोग नहीं कर सकतें है। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्ततः जितने निर्दोष होंगे उतने ही अधिक व्यवहार में पहचानने व मुश्किल होंगे।

अधिकार प्राकृत हैं और यह नहीं कि नैसर्गिक अधिकार अस्तित्व में हैं इस अर्थ में कि यही वे शर्तें हैं जो मनुष्य स्वयं को प्रकृतिनिष्ठ करने हेतु चाहता हैं लास्की अधिकारों के महत्व को स्पष्टतया अनुभव करते हैं जब वह कहते हें कि अधिकार इस अर्थ में प्रकृत नहीं है कि उनका एक स्थायी और अपरिवर्तनीय सूचीपत्र बनाया जा सकता है निःसंदेह वे इस अर्थ में प्राकृत हैं कि एक सभ्य जीवन की मर्यादाओं में रहकर तथ्य अपनी पहचान की माँग करते हैं।

6.3.2 विधिसंगत अधिकारों की परिकल्पना

विधिसंगत अधिकारों का सिद्धांत अथवा अधिकारों की कानून–सम्बन्धी परिकल्पना यही भाव जतलाती है। अधिकारों का वह आदर्शवादी सिद्धांत जो अधिकारों को राज्य के परिणाम के रूप में पेश करने की कोशिश करता है। न्यूनाधिक कानूनी–अधिकार सिद्धांत के एक अन्य नाम से जाना जा सकता हैं इस प्रकार की परिकल्पनाओं के पक्षधरों में बैन्थम हेगैल और ऑस्टिन के नाम के नमा लिए जा सकते हैं। उनके अनुसार अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किए जाते हें अधिकारों को एक ऐसा दावा मानते हुए जो कि राज्य–बल जनता को प्रदान करता है। इन परिकल्पनाओं के अनिवार्य लक्षण तदनुसार है– 1) राज्य ही अधिकारों का विधेयक परिभाषित करता है और निर्धारित करता है। अधिकार न तो राज्य को पूर्ववर्ती और न ही उसके अग्रवर्ती हो सकते हैं क्योंकि राज्य ही अधिकारों का स्त्रोत होता है, 2) राज्य ही वह कानूनी ढाँचा तय करता है जो अधिकारों का स्त्रोत होता है ओर क्योंकि यह राज्य की है जो अधिकारों के उपभोग पर बल देता है, 3) चूँकि काननून ही अधिकारों को जन्म देता है और कायम रखता है अतः जब विधि की विषयवस्तु बदलती है अधिकारों का वास्तविक अर्थ भी बदलता है।

उन परिकल्पनाओं की जो ये संकेत करती हैं कि अधिकार राज्य से जन्में अनेक तरीकों से भर्त्सना की जाती है। राज्य वस्तुतः हमारे अधिकारों की रक्षा करता है और उन्हें संरक्षण देता है। वह उन्हें बनाता हनी है जैसा कि इन परिकल्पनाओं के पक्षधर हमें विश्वास दिलाते हैं कि यदि राज्य हमें अधिकार प्रदान कर सकता है तो वह इन्हें हमसे छीन भी सकता है। जाहिर है इस प्रकार का मत राज्य को निरंकुश बनाएगा। ऐसी स्थिति में हमारे पास सिर्फ वही अधिकार होते हैं जिन्हें राज्य हमें देना चाहता।

6.3.3 अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना

अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना जिसे 'चिरकालभोगजनित सिद्धांत' भी कहा जाता है राज्य को एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जन्मा मानती है। इसका दृष्टिकोण यह है कि अधिकार परम्पराओं व प्रथाओं से जन्म लेते हैं। रूढ़िवादी बर्क ने प्रथाविहित सिद्धांत पर जोर देते हुए कहा कि लोग किसी भी ऐसी चीज़ पर अधिकार रखते हैं जिसका व्यवहार अथवा भोग वे काफी लम्बे समय से निर्बाध रूप से करते आ रहे हैं। अतः माना कि हर अधिकार लम्बे नियम पालन के बल पर टिका है। चूँकि परम्पराएँ व प्रथाएँ अपने अटल व सतत प्रयोग के परिणामस्वरूप दृढ़ होती हैं वे अधिकार का रूप ले लेती है। यह परिकल्पना 18वीं शती में एडमण्ड बर्क के लेखों से उजागर हुई औरत तदोपरांत समाजशास्त्रियों द्वारा अपना ली गई। अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना महत्वपूर्ण हैं जहों तक कि कानूनी–अधिकार सिद्धांत की निंदा करती है। यह भी महत्वपूर्ण है जहाँ तक कि ये नैसर्गिक–अधिकार सिद्धांत मानने से इंकार करती है। राज्य उसे मान्यता देता है जो लम्बे प्रयोग के माध्यम से टिकने आता है ऐसा ऐतिहासिक–अधिकार सिद्धांत के पक्षधरों का कहना है।

अधिकारों की ऐतिहासिक परिकल्पना अपनी मर्यादाओं से त्रस्त हैं। यह नहीं माना जा सकता है कि हमारे सभी रीति–रिवाज अधिकारों में परिणत हो जाते है। सती प्रथा कोई अधिकार स्थापित नहीं करती है और न ही ऐसा शिशुवध करता है। हमारे सभी अधिकारों का मूल रिवाजों में नहीं है। समाजिक सुरक्षा हेतु अधिकार उदाहरण के लिए किसी रिवाज से नहीं जुड़ा है।

6.3.4 अधिकारों की समाज–कल्याण परिकल्पना

अधिकारों का समाज–कल्याण सिद्धांत यह मानता है कि अधिकार ही समाज–कल्याण की शर्तें हैं। इस परिकल्पना का तर्क है कि राज्य को सिर्फ ऐसे अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए जो समाज कल्याण को प्रोत्साहन दें। समाज–कल्याण सिद्धांत के आधुनिक पक्षधरों में रॉस्को पाउंड व शैफी के नाम का उल्लेख किया जा सकता है यद्यपि बैन्थम को इसका 18वीं शती का पक्षधर कहा जा सकता है। इस परिकल्पना का निहितार्थ है कि अधिकार समाज की ही रचना है ठीक उसी प्रकार जैसे वह जन–कल्याण पर आधारित है। अधिकार ही समाज–कल्याण की शर्तें है जिसका मतलब है कि सार्वजनिक कल्याण की समनुरूपता में न किए गए और इसी कारण समुदाय द्वारा अमान्य दावे हमारे अधिकार नहीं बनते हैं।

समाज–कल्याण–अधिकार सिद्धांत भी अपनी त्रुटियों से परे नहीं है। यह समाज कल्याण घटक पर ही रहा करता है एक शब्द जो इतना अस्पष्ट है कि यथातथ्य नहीं हो सकता। बैन्थामाइअ सूत्र 'वृहत्तम समूह का वृहत्तम कल्याण' भिन्न लोगों के लिए भिन्न–भिन्न है। यह परिकल्पना ही अधिकारों की विधि संगत परिकल्पना सिद्ध होती है यदि अंत में राज्य को ही तय करना है कि समाज कल्याण में क्या–क्या आता है। विल्दे जैसे एक आलोचक का दृष्टिकोण होता है कि यदि अधिकार सामाजिक औचित्य के विचार से बनाए जाते हैं व्यक्ति अभ्यर्थनारहित होता है और असहाय रूप से अपनी यादृच्छिक इच्छा पर निर्भर रहता है।

6.3.5 अधिकारों की मार्क्सवादी परिकल्पना

मार्क्सवादी–अधिकार सिद्धांत इतिहास के काल–विशेष में आर्थिक व्यवस्था के शब्दों में समझा जाता है। एक विशिष्ट सामाजिक–आर्थिक संरचना अधिकारों की एक विशिष्ट व्यवस्था रखती है। राज्य चूँकि आर्थिक रूप से प्रबल वर्ग के हाथों में एक हथियार होता है, स्वयं ही एक सामाजिक–क्रम संस्था है और वह कानून जो यह बनाती है भी एक संवर्ग संहिता होता है। ऐसा माने जाने पर सामन्ती राज्य सामन्तिक कानूनों के माध्यम से सामन्ती व्यव्था का पक्ष लेते हुए इस अधिकार–व्यवस्था को संरक्षण देता है। इसी प्रकार पूँजीवादी राज्य पूँजीवादी कानूनों के माध्यम से पूँजीवादी व्यवस्था का

पक्ष लेते हुए इस अधिकार–व्यवस्था को संरक्षण देता है। एक संवर्ग समाज में सभी के लिए अधिकार सुनिश्चित करना मार्क्सवादी का तर्क है संवर्ग राज्य का ध्येय नहीं होता। प्रत्युत उसका उद्देष्य होता है आर्थिक सत्ता को काम में लाने वाले सामाजिक क्रम के हितों को संरक्षण और प्रोत्साहन देना। मार्क्स के अनुसार वह सामाजिक वर्ग जो समाज के आर्थिक ढाँचे पर नियंत्रण रखता है राजनीतिक सत्ता पर भी नियंत्रण रखता है और वह अपनी शक्ति को सभी के हितों की बजाय अपने ही निजी हितों को संरक्षण व प्रोत्साहन देने में प्रयोग करता है। उस समाजवादी समाज में जो पूँजीवादी समाज का अनुसरण करता है जैसा कि मार्क्सवादी ढाँचा सुझाता है समाजवादी राज्य सर्वहारा कानूनों के माध्यम से कामगार वर्ग के हितों/ अधिकारों को संरक्षण व प्रोत्साहन देगा। चूँकि समाजवादी समाज पूँजीवादी समाज से भिन्न एक वर्गहीन समाज है। उसका राज्य और कानून किसी वर्ग विशेष के नहीं बल्कि उस वर्गहीन समाज में रहने वाले सभी लोगों के अधिकारों की रक्षा करते हैं। मार्क्सवादी कहते हैं कि समाजवादी राज्य ही सामाजिक व राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन के एक हथियार के रूप में उस समाजवाद को स्थापित करने का प्रयास करेगा जो हर कोई अपनी योग्यता से हर कोई अपने कार्यानुसार के सिद्धांत पर आधारित हो सभी के लिए अधिकार–व्यवस्था इस प्रतिमान का अनुसरण करे। आर्थिक अधिकार सबसे पहले उसके बाद सामाजिक अधिकार व राजनीतिक अधिकार।

मार्क्सवादी–अधिकार सिद्धांत स्वयं मार्क्सवादी की भाँति अपनी नियतिवादी विचारधारा से ग्रसित है यद्यपि उसके द्वारा गैर–शोषणकारी समाजवादी व्यवस्था पर जोर दिया जाना उसकी चारित्रिक विशेषता है न तो आर्थिक घटक ही अकेले समाज की नींव प्रदान करता है न ही अधिरचना ही सिर्फ आर्थिक आधार पर प्रतिबिम्ब मात्र है क्योंकि गैर–आर्थिक बल भी अधिरचना को निर्धारित करने में अपनी भूमिका निभाते हैं।

6.4 अधिकारों का गठन

अधिकार ही मानव व्यक्तित्व की अनिवार्य शर्तें हैं। मानव व्यक्तित्व का विकास व्यक्तियों को उपलब्ध अधिकार–व्यवस्था पर निर्भर करता है। भिन्न राज्य व्यवस्थाएं भिन्न अधिकारों को मान्यता देती है। अमरीकियों को मुहैया अधिकार भारतीयों को उपलब्ध अधिकारों से भिन्न होंगे। एक उदारचरित–लोकतंत्रवादी समाज किसी समाजवादी समाज की तुलना में भिन्न अधिकारों को प्रमुखता देगा। यही कारण है कि हम अधिकारों का एक वर्गीकरण करके रखते हैं। नैतिक व कानून–सम्बन्धी नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक में विधिसंगत। देश विशेष के सवंधान में समाविष्ट अधिकार मूलभूत अधिकार कहे जाते हैं।

अधिकर चूँकि मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक मौलिक शर्तें हैं वे सभी राज्यों की व्यक्तियों को मुहैया कराने होते हैं। मानवाधिकारों की संयुक्त–राष्ट्र घोषणा स्वतंत्र राष्ट्रों को अपनी–अपनी प्रजा हेतु मान्यता देने व कायम रखने हेतु प्रेरणा व कार्यसूची के रूप में व्यहार करती है।

6.4.1 जनसाधारण के अधिकार

जनसाधारण को उपलब्ध मुख्य अधिकारों का एक आम ढाँचा संक्षिप्ततः निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

जीवन का अधिकार एक मौलिक अधिकार है जिसके बगैर अन्य सभी अधिकार अर्थहीन हैं। इस अधिकार का अर्थ है कि राज्य जीवन के संरक्षण किसी भी क्षति के विरुद्ध रक्षा की गारंण्टी देता है। यहाँ तक कि आत्महत्या भी एक अपराध माना जाता है। समानता का अधिकार अनेक पहलू रखता है। कानून के समक्ष समानता कानून का समान संरक्षण किसी भी प्रकार के भेदभाव की मनाही सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक। रक्षात्मक भेदभाव जैसा कि भारतीय संविधान में पोषित है समानता हेतु अधिकार का एक अभिन्न भाग है।

स्वतंत्रता का अधिकार समानता के अधिकार की भाँति अनेक पहलू रखता है। भाषण की प्रैस की सभा की संघ की आन्दोल की निवास की किसी व्यवसाय को अपनाने की स्वतंत्रता। इन स्वतंत्रताओं का व्यवहार तर्कसंगत प्रतिबंधों में ही किया जाना होता है यही बाता संविधान द्वारा भारतीयों को प्रदत्त इस अधिकार की चरित्रगत विशेषता है।

धर्म विवेक आस्था की स्वतंत्रता का अधिकार व्यक्तियों का उपलब्ध एक अन्य अधिकार है। धर्म एक आस्था व व्यक्ति के अन्तर्मन की आवाज़ का विषय है और यथावत वर्तमान राज्यों में नागरिकों को प्रदत्त है। यह अधिकार धर्मनिरपेक्षता को कम नहीं करता है जहाँ तक कि धर्म को किसी व्यक्तिगत वस्तु के रूप में लिया जाता है और धर्म व जनजीवन के आपस में मिलने नहीं दिया जाता है।

शिक्षा का अधिकार एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकार है जिसके बगैर मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास असंभव हो जाता है। एक अशिक्षित व्यक्ति सार्थक जीवन नहीं चला सकता। अशिक्षा चूँकि एक सामाजिक अभिशाप है घटाई जानी / दूर की जानी चाहिए। राज्य की को शिक्षा को बढ़ावा देने का दायित्व उठाना चाहिए।

कुछ निश्चित आर्थिक अधिकारों में शामिल हैं– काम का अधिकार सामाजिक सुरक्षा का अधिकार तथा विश्राम व अवकाश। काम के साथ और बिना भौतिक सुरक्षा के एक व्यक्ति अन्य अधिकारों का सुख भोगने में असमर्थ रहता है। सम्पत्ति का अधिकार भी एक आर्थिक अधिकार है जिसका अर्थ है सम्पत्ति रखने और उत्तराधिकारी रूप में उसे प्राप्त करने का अधिकार। इसको उदारचरित–लोकतंत्रों में एक महत्वपूर्ण अधिकार के रूप में लिया जाता है।

व्यक्तियों के कुछ राजनीतिक अधिकार भी होते हैं। यही वो अधिकार है जो व्यक्तियों को पूर्ण विकसित नागरिक बनाते हैं इनमें उल्लेखनीय है वोट देना, चुनाव लड़ने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने राजनीतिक दल बनाने का अधिकार।

भारतीय संविधान अपने नागरिकों को अधिकारों की सूची प्रदान करता है। इनको मौलिक अधिकार कहा जाता है और इनमें शामिल है। समानता का अधिकार स्वतंत्रता का अधिकार शोषण के विरुद्ध अधिकार धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार सांस्कृतिक व शैक्षिणक अधिकार तथा सांवैधानिक उपचारों का अधिकार अन्तिम एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है जहों तक कि यह अधिकार अन्य सभी अधिकारों के गारण्टियों को सुनिश्चित करता है।

6.4.2 लॉस्की की अधिकार–परिकल्पना

हैरॉल्ड लास्की (1893–1950), इंग्लिश लेबर पार्टी के एक सिद्धांती ओर अपने ही स्वत्व में एक राजनीति–वैज्ञानिक के अधिकार व्यवस्था पर अपना निश्चित दृष्टिकोण रखते हैं जैसा कि उनके ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (सर्वप्रथम 1925 में प्रकाशित और उसके बाद लगभग हर दूसरे वर्ष संशोधित) में प्रतिपादित है।

प्राकृत अधिकारों पर लास्की के विचार निम्न प्रकार हैं 1) वे समाज के सदस्य रूप में व्यक्ति को प्रदत्त सामाजिक शर्तें हैं; 2) वे वैयष्टिक व्यक्तित्व उसका सर्वोत्तम–स्वयं को बढ़ाने में मदद करते हैं वे सामाजिक शर्तें जिनके बिना कोई भी मनुष्य अपना सर्वोत्तम स्वयं होने का प्रयास नहीं कर सकता 3) वे सामाजिक हैं क्योंकि वे कभी समाज–कल्याण विरुद्ध नहीं होते समाज के उद्गमन पूर्व वे नहीं होते थे 4) राज्य अधिकारों को कायम रखकर सिर्फ मान्यता और संरक्षण देता है 5) अधिकार कभी सम्पूर्ण असीम नहीं होत असमी अधिकार शब्दतः व्याघात हैं 6) स्वभावतः वे परिवर्तनशील है जहाद कि उनकी विषयवस्तु स्थान काल व परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है 7) वे कर्तव्यों के साथ चलते हैं वस्तुतः कर्तव्य अधिकारों से पहले हैं अधिकारों का व्यवहार कर्तव्यों के व्यवहार का द्योतक है।

यदि लास्की व्यक्ति को अधिकार देते तो वह अधिकार इस क्रम में देते काम का अधिकार, उचित वेतन भुगतान किए जाने का अधिकार रम के तर्कसंगत घण्टों का अधिकार शिक्षा का अधिकार, अपने शासक चुनने का अधिकार तदोपरांत अन्य अधिकार। लास्की का तर्क है कि सर्वप्रथम आर्थिक अधिकार प्रदान किए बिना कोई भी व्यक्ति अपने राजनीतिक अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता। आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है जहां विशाल असमानताएं होती हैं मनुष्यों के बीच सम्बन्ध मालिक और गुलाम की मानिंद होता है। समान रूप से महत्वपूर्ण पर क्रम में नाचे है शिक्षा का अधिकार शिक्षा अकेले ही एक व्यक्ति को इन दूसरे अधिकारों का उचित रूप से प्रयोग करने में सहायता करती है। व्यक्ति के व्यवस्थापन में आर्थिक व सामाजिक के सहारे, व्यक्ति की कहीं अधिक संभावना है कि वह अपने राजनीतिक अधिकार सही गाम्भीर्य में व्यवहार करें।

6.4.3 मानवाधिकारों की परिकल्पना

एस0 रामफल ने बहुत सही कहा है कि मानव अधिकार मनुष्यों से नहीं जन्में थे प्रत्युत उनके साथ जन्मे थे। वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों के प्रतिफल रूप में इतने नहीं है कि जितने कि मौलिक मानव प्रतिष्ठा से उद्भुत वस्तुओं के रूप में। वे मानव अधिकार हैं क्योंकि वे मनुष्य मात्र के साथ मनुष्य रूप में ही है।

मानवाधिकारों को सामान्यतया उन अधिकारों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित हैं और जिनके बिना हम मनुष्य रूप में नहीं रह सकते हैं। वे अनिवार्य हैं क्योंकि वे हमें अपनी मानसिक शक्ति

प्रतिभाओं व क्षिपग्राहिता को प्रयोग करने व विकसित करने में मदद करते हैं। वे स्वंय को मानवजाति की एक ऐसे जीवन हेतु बढ़ती माँग पर आधारित करते हैं जिसमें प्रत्येक मनुष्य की अन्तर्भूत प्रतिष्ठा ओर योग्यता को केवल संरक्षण ही नहीं वरन् सम्मान भी प्राप्त होगा।

मानव अधिकार सभी संगठनों के मूल में निहित हैं। वे संपूर्ण संयुक्त–राष्ट्र घोषणा–पत्र में व्याप्त हैं। संयुक्त–राष्ट्र घोषणा–पत्र की प्रस्तावना में मौलिक मानवाधिकारों में मानव व्यक्ति की प्रतिष्ठा व योग्यता में पुरूषों व स्त्रियों तथा राष्ट्रों छोटे व बड़े के समान अधिकारों में आस्था दष्ढ़ करने का एक निश्चय है। घोषणा–पत्र के अनुच्छेद 13, 55, 62, 68, 76 में मानवाधिकारों हेतु सार्वत्रिक सम्मान के प्रोत्साहन का उल्लेख है।

संयुक्त–राष्ट्र आर्थिक व सामाजिक परिषद के तहत कार्यरत मानवधिकार आयोग ने रूजवेल्ट की अध्यक्षता में रहकर लगभग ढाई वर्ष बिताने के बाद जो प्रारूप तैयार किया उसे मानवधिकारों की सार्वत्रिक घोषणा कहा जाता है। 10 दिसम्बर 1948 को जब संयुक्त–राष्ट्र महासभा ने इस घोषणा को स्वीकर्षति दी इस दिन को मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाने लगा।

उस तीस अनुच्छेदों में जो मानवधिकारों की घोषणा का एक भाग हैं अनुच्छेद 3 से 15 तक पारम्परिक अधिकारों की एक सूची है। इन अधिकारों में शामिल है जीवन की स्वतंत्रता का, सुरक्षा का सादृच्छिक गिरफ्तारी से आज़ादी का किसी मुकदमें की निष्पक्ष सुनवाई का कानून के समान संरक्षण का आन्दोलन की स्वतंत्रता का राष्ट्रीयता का आश्रय पाने आदि का अधिकार।

अन्य महत्वपूर्ण अधिकार भी हैं जो अनुच्छेद 16 व 21 में दिए गए हैं। इनमें शामिल है पुरुषों व महिलाओं को समान अधिकार, विवाह करने का, परिवार बसाने का, सम्पत्ति का, मौलिक स्वतंत्रताओं जैसे विचार व अभिव्यक्ति का शांतिपूर्ण सभा व संघ के साथ–साथ व्यक्ति के अपने देश की सरकार में हिस्सेदारी का अधिकार।

अनुच्छेद 22 से 27 में आर्थिक अधिकार स्थापित हैं। इनमें शामिल हैं काम का अधिकार, बेरोज़गारी के विरूद्ध रक्षण, न्यायसंगत पारिश्रमिक, मज़दूर यूनियन बनाने का अधिकार, विश्राम व अवकाश लेने का अधिकार, उचित जीवन–स्तर का, शिक्षा व देश के सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी का अधिकार।

अनुच्छेद 28, 29, 30 सामाजिक/अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था, समुदाय के प्रति कर्तव्य जिनमें रहकर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का मुक्त व स्वतंत्र विकास संभव है तथा तदनुसार इन अधिकारों की गारण्टियाँ सुनिश्चित करते हैं।

मानवाधिकारों की सार्वत्रिक घोषणा की मानवाधिकारों के अन्तराष्ट्रीय विधेयक का सर्वप्रथम खण्ड हैं इसके बाद है– आर्थिक, सांस्कृतिक व सामाजिक अधिकारों पर अन्तराष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, नागरिक व राजनैतिक अधिकारों पर अन्तराष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र तथा वैकल्पिक नयाचार – सभी 1966 में अंगीकृति।

6.5 सारांश

अधिकार मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सामाजिक दावे हैं। ये व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं और वे ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करते हैं जिनके बिना वे स्वयं अस्तित्व में होने का प्रयास नहीं कर सकती हैं। वे सामाजिक होते हैं समाज प्रदत्त और राज्य द्वारा सुरक्षित। राज्य भी व्यक्तियों से उन्हें नहीं छीन सकता। वे समाज–विकास के विशिष्ट चरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। जिस प्रकार समाज बदलता है उसी प्रकार अधिकारों की प्रकृति व विषय–वस्तु बदलती है। अधिकार–सम्बन्धी परिकल्पनाएं उनके अभिप्रायों, उत्पत्ति व प्रकृति विषयक आंशिक उपचार को प्रकट करती है। प्राकृत–अधिकार परिकल्पना वहाँ तक ही है जहाँ तक यह इस तथ्य पर ज़ोर डालती है कि अधिकार नैसर्गिक हैं क्योंकि वे सामाजिक दावों का स्वभाव लिए हैं। इसी प्रकार अधिकारों की कनून–सम्बन्धी परिकल्पना सत्य ही कहीत है जहाँ तक कि यह राज्य को हमारे अधिकारों को जमींनदार बनाती है।

अधिकार अनेक प्रकार के होते हैं। वे अधिकार जो मानवमात्र को उपलब्ध हैं उनमें सम्मिलित हैं जीवन का अधिकार, व्यक्ति व सम्पत्ति की सुरक्षा का, स्वतंत्रता, शिक्षा, काम, धार्मिक स्वतंत्रता, वोट देने का, सार्वजनिक पदग्रहण का अधिकार। उदारवादी–लोकतांत्रिक समाज आर्थिक व सामाजिक बजाय व्यक्तिगत व राजनैतिक अधिकारों पर अधिक ज़ोर देते हैं। समाजवादी समाज अधिकारों के विपरीत क्रम–व्यवस्था की वकालत करते हैं।

लॉस्की, वामपंथ की ओर झुकते एक उदारवादी के रूप में अधिकारों को वैयक्तिक विकास हेतु अनिवार्य मानते हैं परन्तु आर्थिक अधिकार तदोपरांत सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्रदान करते हैं।

संयुक्त–राष्ट्र मानवाधिकार घोषणा मानवमात्र को मानवमात्र के रूप में उपलब्ध मौलिक अधिकार सम्बन्धी एक सूची की व्यवस्था देती है।

6.6 अभ्यास

1. अधिकारों से आप क्या समझते हैं? अधिकार, शक्ति, दावे व हकदारियों के बीच अंतर स्पष्ट करें।
2. अधिकारों की विभिन्न परिकल्पनाओं का संक्षेप में वर्णन करें।
3. आधुनिक नागरिकों को उपलब्ण अधिकारों का उल्लेख करें।
4. हैरॉल्ड लास्की की अधिकार– सम्बन्धी परिकल्पना पर चर्चा करें।
5. मानवाधिकारों की संयुक्त–राष्ट्र घोषणा पर एक विवरणातमक निबंध लिखें।

*****

अध्याय – 7
राज्य और नागरिक समाज

अध्याय की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 राज्य और नागरिक समाज : अर्थ और लक्षण

7.2.1 राज्य अर्थ

7.2.2 नागरिक समाज का अर्थ

7.2.3 राज्य और नागरिक समाज के लक्षण

7.3 राज्य की अवधारणा : एक पर्यवलोकन

7.3.1 पूर्व–आधुनिक परम्परा

7.3.2 उदारवादी–व्यक्तिवादी परम्परा

7.3.3 मार्क्सियन परम्परा

7.4 नागरिक समाज की अवधारणा : एक पर्यवलोकन

7.4.1 पूर्व–आधुनिक परम्परा

7.4.2 उदारवादी–व्यक्तिवादी परम्परा

7.4.3 हैगेलियन, मार्क्सियन और ग्राम्सियन परम्पराएं

7.5 राज्य और नागरिक समाज के बीच सम्बन्ध

7.5.1 राज्य और समाज : संघटनकारी सम्बन्ध

7.5.2 राज्य नागरिक समाज और लोकतंत्र

7.6 सारांश

7.7 अभ्यास

7.1 प्रस्तावना

राज्य की अवधारणा राजनीति–विज्ञान में एक मुख्य स्थान रखती है। 'राज्य' शब्द का उल्लेख किए बिना राजनीति–सिद्धांत पर कोई चर्चा पूरी नहीं होती। राज्य, वस्तुतः, मानव जीवन का हर पहलू छूता है और यही कारण है, बिल्कुल सही रूप से, कि इसने प्लेटो के समय से ही सभी राजनीति–तत्त्वज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया है। सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित करते एक प्रशासनिक तंत्र के रूप में राज्य को समझना इसके एक पहलू को समझना है। महत्त्वपूर्ण तो वैसे यह पहलू है, पर यह ऐसा एकमात्र पहलू नहीं है, जो स्पष्ट करे कि यह क्या है। राज्य वहां है, जहां यह कार्यरूप में व्यवहृत है। अपने अन्य सम्बन्धित संकेतार्थों के साथ इसका वास्तविक अर्थ अधिक स्पष्ट रूप से तब सामने आता है, जब यह अपने कार्यक्षेत्र के प्रभावक्षेत्र के सम्बन्ध में समझा जाता है, जो कि वही है जो समाज है।

राज्य क्या है? समाज अथवा नागरिक समाज क्या है? इन दोनों के क्या सम्बन्ध हैं और दोनों एक–दूसरे के सम्बन्ध में कैसे स्थित हैं? नागरिक समाज के विषय में क्या विशेष बात है जो राज्य को एक भिन्न सम्पृक्तार्थ प्रदान करती है? ये प्रश्न राजनीति–सिद्धांत के प्रसंग में महत्वपूर्ण रहे हैं और वस्तुतः हैं भी तथा इन प्रश्नों के उत्तर बहुत से

राजनीति–सिद्धांतियों द्वारा दिए गए हैं। इन दो शब्दों और नागरिक समाज से सम्बन्धित विषयों पर एक परिचर्चा हमें उनके अर्थों संकेतार्थों व उन सापेक्ष परिप्रेक्ष्यों को समझने में मदद करेगी जिनमें ये दो संकल्पनाएं एक–दूसरे का पालन करती है।

7.2 राज्य और नागरिक समाज : अर्थ और लक्षण

समाज को नागरिक समाज, नागरिक समाज को राजनीतिक समाज, राजनीतिक समाज को राज्य बतलाना बड़ी आम बात है। हरके को एक दूसरा समझने का मतलब है कि हम इनमें से किसी को नहीं समझते। जबकि 'समाज' संकल्पना एक व्यापक शब्द है, 'नागरिक समाज' शब्द इस प्रकार के समाज को इंगित करता है जो एक समय–विशेष के प्रति निर्दिष्ट है और एक परिस्थिति–विशेष में स्थित है। 'समाज', आम भाषा में, 'सामाजिक सम्बन्धों' की समग्रता, अभिज्ञ अथवा अनभिज्ञ, इरादतन अथवा गैर–इरादतन की ओर इशारा करता है। 'नागरिक समाज', दूसरी ओर स्वंय को जनता से सम्बन्धित मामलों से संबद्ध रखता है। यह बात 'नागरिक समाज' शब्द को राजनीतिक समाज' की संकल्पना के नज़दीक लाती है। वस्तुतः दोनों ही शब्द–पद पहले की एक ऐसा समाज मानकर चलते हैं, जहां शिष्टाचार या नागरिकता उनका चारित्रिक लक्षण है, परन्तु 'नागरिक समाज' उन क्षेत्रों तक फैला है जो राजनीतिक समाज की पहुंच से बहुत दूर है। परिवार की संस्था, उदाहरण के लिए नागरिक समाज के अन्तर्गत आने वाला क्षेत्र है। परन्तु यह ऐसा कार्यक्षेत्र है जहां राजनीतिक समाज दूर ही रहे तो अच्छा। 'राजनीतिक समाज' में प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः राजनीतिक से सम्बन्धित तमाम गतिविधियां आती हैं, परन्तु यह शब्द–पद 'राज्य' शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक रहता है जब परवर्ती को महज शासन की विषय–वस्तु के रूप में लिया जाता है।

यह वास्तव में आवश्यक है कि हम इन शब्दों के अर्थों को स्पष्ट रूप से समझें। यदि हम उनके बीच सम्बन्ध को समझने का इरादा रखते हैं, खासकर राज्य व नागरिक समाज के बीच।

7.2.1 राज्य अर्थ

राज्य एक स्टैटो शब्द के रूप में मैक्यावली (1469–1527) के लेखों में सोलहवीं सदी के शुरुआती हिस्से में इटली में नज़र आया। एक निकाय विज्ञ के भाव में राज्य का अर्थ सोलहवीं सदी के बाद के हिस्से में इंग्लैण्ड व फ्रांस में सर्वमान्य हो गया। सत्रहवीं सदी के दौरान स्टैट्स्कुन्स्ट शब्द रैजिॲन दी स्टैटो का जर्मन पर्यायवाची बन गया और कुछ बाद में, स्टैट्रेक्ट शब्द ने जस पब्लिकन का अर्थ ले लिया (देखें सैबाइन, 'स्टेट', दि एन्साइक्लॅपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सिज़, खण्ड) इस प्रकार हुआ राज्य, यानी 'स्टेट' शब्द का प्रचलन।

राज्य में शुरू से ही एक प्रदेश और एक राष्ट्र का उल्लेख शामिल रहा है। परन्तु यह अकेले ही किसी राज्य का निर्माण नहीं करता। यह बहुत्व–अभाव, कानूनी व राजनीतिक प्राधिकार की अभिन्नता, समाज में आदमी के विशिष्ट बाह्य सम्बन्धों पर नियंत्रण रखने, समाज के भीतर ही अस्तित्व रखने की ओर इशारा करता है। यह वो है जो यह करता है, यानी सार्वजनिक शान्ति व नियंत्रण की एक व्यवस्था बनाता है, और इस काम के लिए बल प्रयोग व दमन–प्रयोग की कानूनी शक्ति से नयायगत होता है।

एक राज्य इस प्रकार अपनी विस्तृत व्यवस्था में स्थापित होता है। यह अपनी उन संस्थाओं में स्थापित होता है जो कानून बनाती है और जो उन्हें लागू करती है, यानी विधायिका कार्यपालिका व न्यायपालिका जैसी संस्थाओं में। यह उन नौकरशाह संस्थाओं में स्थापित होता है जो सरकार की प्रत्येक कार्यकारी शाखा से जुड़ी होती है। यह उन संस्थाओं में स्थापित होता है जिनको उनके मनोरथ की चुनौती मिलने पर कार्यशील होने का आह्वाहन किया जाता है यथा सेना व पुलिस राज्य इन संस्थाओं का कुलयोग है। रैल्फ मिलिबैंड लिखते हैं, "यही वो संस्थाएँ हैं– सरकार, प्रशासन, सेना व पुलिस, न्यायिक शाखा, उप–केन्द्रीय सरकार तथा संसदीय सभाएं – जो राज्य का निर्माण करती हैं...."। इन संस्थाओं में राज्य सत्ता निहित होती है; इन संस्थाओं के ही माध्यम से राज्य के कानून निकलते हैं, और उन्हीं से शारीरिक बल प्रयोग का कानूनी अधिकार निकलकर आता है।

शासन के रूप में राज्य एक व्यवस्था है, जो भी उससे जुड़ा है उसको राजनीतिक व्यवस्था अथवा राजनीतिक समाज कहा जा सकता है। इसमें एक ओर शामिल हैं संस्थाएं, जैसे कि राजनीतिक दल, दबाव समूह, प्रतिपक्ष आदि और दूसरी

ओर, वृहद्–स्तरीय उद्योग–गृह धार्मिक व जातीय संस्थाएं श्रमिक संघ आदि। राज्य–व्यवस्था से बाहर अस्तित्व रखने वाली ये संस्थाएं राज्य की कार्यवाही को प्रभावित करने का प्रयास करती हैं, कहीं उस पर हावी होकर भी और कहीं उसके साथ सहयोग करके। स्कॉक्पॉल वह बात संक्षेप में कहते हैं, जिसको नीरा चन्धोक राज्य का राज्यनियंत्रणवादी परिप्रेक्ष्य कहती हैं, "राज्य को ठीक से समझने पर ..... निस्संदेह एक कार्यकारी प्राधिकरण के नेतृत्व में और न्यूनाधिक भलीभांति समन्वय में प्रशासनिक पुलिस–एकत्रण व सैन्य संगठनों का सेट है। कोई भी राज्य प्रथमतः एवं आधारभूत रूप से समाज से ही संसाधन निष्कार्षित करता है तथा इनको दमनकारी व प्रशासनिक संगठनों को जन्म देने व समर्थन देने हेतु क्रियाशील करता है ..... इसके अतिरिक्त दमनकारी व प्रशासनिक संगठन कुल मिलाकर राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंगमात्र ही हैं। इन व्यवस्थाओं में ऐसी संस्थाएं हो सकती हैं जिनके माध्यम से राज्य नीति निर्माण में सामाजिक हितों का प्रतिनिधित्व किया जाता है, साथ ही ऐसी संस्थाएं भी हो सकती है जिनके माध्यम से नीति–कार्यान्वयन में भागीदारी हेतु गैर–राज्य कर्त्ताओं को संघटित किया जाता है। तिस पर भी प्रशासनिक व दमनकारी संगठन राज्य सत्ता का आधार होते हैं।"

राज्य को अर्थ प्रदान करता दूसरा सूत्र माइकल फूको से प्राप्त होता है जो राज्य को समाज में पहले से ही विद्यमान सत्ता सम्बन्धों पर आधारित मानते हैं। चन्धोक फूको के विषय में खिती हैं, "राज्य उसने निष्कर्ष निकाला है सिर्फ समाज में प्रभुत्व स्थापन वउत्पीड़न के विद्यमान सम्बन्धों पर ही चल सकता है।"

राज्य के दोनों ही परिप्रेक्ष्यों को ठुकराते हुए चन्धोक कहती हैं। राज्य नियंत्रणवादी समाज कीमत पर राज्य पर ध्यान लगाते हैं और फूकोलियन पद्धति में सिद्धांती राज्य की कीमत पर सामाजिक अंतर्क्रिया पर एकाग्रचित्त होते हैं। उनका निष्कर्ष है कि राज्य समाज के सम्बन्ध में और समाज राज्य के सम्बन्ध में समझे जोन के लिहाज से, "एक सामाजिक सम्बन्ध है, क्योंकि यही सामाजिक संरचना की विद्धिबद्ध शक्ति है।"

7.2.2 नागरिक समाज का अर्थ

नागरिक समाज की अवधारणा इसे एक अर्थ प्रदान करने के लिए मानयताओं मूल्यों व संस्थाओं की एक सम्पूर्ण अंगीकार करती है, जैसे कि राजनीतिक, सामाजिक, नागरिक अधिकार, कानून का शासन प्रतिनिधि–संस्थाएं एक सार्वजनिक क्षेत्र और सर्वोपरि है संघों का बहुत्व। इस पर टिप्पणी करते हुए डेविड हैल्ड ने कहा कि यह कायम रखती है, "एक विशिष्ट लक्षण उस सीमा तक कि यह सामाजिक जीवन क्षेत्रों से मिलकर बनी है ..... घरेलू संसार, आर्थिक, सांस्कृतिक गतिविधियाँ तथा राजनीतिक अंतक्रिया .... जो राज्य के सीधे नियंत्रण से बाहर व्यक्तियों व समूहों के बीच निजी अथवा स्वैच्छिक प्रबंधों द्वारा आयोजित किए जाते हैं।" राजनीतिक अन्तक्रिया के विषय में आगे नागरिक समाज उसे भी अंगभूत करता है जिसे युर्गेन हैबरमस सार्वजनिक क्षेत्र कहते हैं। नागरिक समाज के दृष्टिकोण को विस्तार देते हुए, हम इसमें ये बातें भी शामिल कर सकते हैं– आधुनिक राष्ट्रीय राज्य का प्राधार, आर्थिक आधुनिकीकरण अन्य समाजों के साथ वृहद् अन्तर्सम्बद्धता स्वतंत्र उद्यम तथा वह बात जिसका जॉन डूज आधुनिक प्रतिनिधि लोकतांत्रिक गंणतंत्र के रूप में लिखते हैं।

चन्धोक नागरिक समाज के अर्थ को इस प्रकार संक्षेप में कहती है– सार्वजनिक क्षेत्र के रूप में जहां व्यक्तिजन विभिन्न प्रयोजनों से एक–दूसरे के साथ आते हैं। अपने स्वाधिकार के साथ–साथ एक अस्तित्वयुक्त सत्ता के पुनर्प्रस्तुतिकरण हेतु भी समाज कहलाता है। यह एक ऐसा वह आगे कहती हैं, क्षेत्र है जो कि सार्वजनिक है, क्योंकि यह औपचारिकता सभी के लिए सुगम्य है और सिद्धांततः इस क्षेत्र में अधिकारधारकों के रूप में सभी को प्रवेश प्राप्त है।"

नागरिक समाज की संकल्पा यथा और तैसे ही उभरकर आई, जब एक सामाजिक समुदाय स्वयं को राज्य सत्ता के विशिष्ट दिशानिर्देश से स्वतंत्र संगठित करने का प्रयास करने लगा। ऐतिहासिक रूप से यह संकल्पना चन्धोक कहती हैं, तब अस्तित्व में आयी जब विख्यात राजनीतिक अर्थशास्त्री 'मर्कैण्टाइलिस्ट स्टेट' यानी वाणिज्यवादी राज्य की सत्ता पर नियंत्रण करने का प्रयास करने लगे। समय व्यतीत होने के साथ ही नागरिक समाज की संकल्पना उत्तरोत्तर बढ़ चली अठाहरवीं सदी में लोकतांत्रिक आन्दोलनों के एक मुख्य घोषणापत्र का रूप लेते हुए।

7.2.3 राज्य और नागरिक समाज के लक्षण

राज्य एक समाज में ही अस्तित्व रखता है। यह बात राज्य व समाज को विश्लेषणात्मक रूप से भिन्न बनाती है। यह दोनों एक से ही है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है और अतएव सामाजिक प्रथाओं की समग्रता माहित रखता है जो कि अनिवार्यतः एकाधिक हैं, परन्तु साथ ही युक्तिसंगत भी है। एक प्रदत समुदाय की क्रम परंपराबद्ध रूप से आयोजित व समर्थित सामाजिक प्रथाएं बदले में अपने सदसें के बीच सभी प्रकार के सता समीकरणों व सम्बन्धों को स्थापित प्रदान करने भीतर आता है। राज्य सामाजिक प्रथाओं में व्यक्ति किए गए सामाजिक सम्बन्धों को वैधता प्रदान करता है क्योंकि वह उन्हें मान्यता देता है और वैध कानूनों के माध्यम से उन्हें विधिबद्ध करता है। इसी अर्थ में राज्य की व्याख्या एक प्रदत समय की सामाजिक संघटन सम्बन्धी विधिबद्ध सता के रूप में की जाती है।

राज्य ऐसा माना जाता है स्वयं की सत्ता का एक स्पष्ट और अमूर्त संगठन है जहां तक कि वह सत्ता को औपचारिक विधि संहिताओं व संस्थाओं में चुनने वर्गीकृत करने स्पष्ट और नियत आकार देने तथा सुव्यवस्थित करने की क्षमता रखता है और यह क्षमात राज्य को प्रदान करती है उसकी पदवी सत्ता निर्णय लेने की शक्ति निर्णयों को लागू करने की शक्ति और उन लोगों को बाध्य करने की शक्ति भी जो उनका उल्लंघन करते हैं। परन्तु राज्य जैसा कि ऊपर माना गया है अपनी शक्ति समाज से व्युत्पन्न करता है। यह इस अर्थ में एक विधिबद्ध अधिकार है परन्तु समाज के उस ढाँचे के भांति ही जिसमें वह काम करता है।

यह राज्य एक सामाजिक सम्बन्ध के रूप में और किसी प्रदत समाज में एक विधिबद्ध सत्ता के रूप में भी अपी कुछ विशेषताएं रखता है। इन विशेषताओं को निम्न प्रकार से कहा जा सकता है–

(1) राज्य एक सत्ता है अपने आप में संगठित है। यह औपचारिक विधि संहिताओं व संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक सम्बन्धों को विधिकष्त करने और उन्हें मान्यता प्रदान करने का अधिकार रखता है। यह उसे वर्गों और उसमें विद्यमान स्वायत्त प्रतिस्पधी गुटों से बनाते हुए राज्य को समाज में एक सुव्यक्त और अलघुकरणीय पद प्रदान करता है।

(2) राज्य विशिष्ट रूप से राजनीतिक प्रथाओं के एक सेट के रूप में उदय होता है जो बाध्यकारी निर्णयों को परिभाषित करता है और उन्हें लागू करता है सामाजिक जीवन के हरेक पहलू में हस्तक्षेप करने की हद तक।

(3) राज्य बलप्रयोग के सभी साधनों को एकाधिकार में लाता है। इस अधिकार को समाज में अन्य कोई भी संगठन नहीं रखता।

(4) राज्य सामाजिक सम्बन्धों को नियत भाव और समाज को सामाजिक स्थिरता प्रदान करता है। सामाजिक व्यवस्था चन्धोक के अनुसार राज्य के माध्यम से स्थापित होती है और राज्य द्वारा तय किए गए मानदण्डों के भीतर ही अस्तित्व रखती है।

(5) राज्य एक प्रदत समाज के ढांचे के भीतर ही अस्तित्व में रखता है। जिस प्रकार समाज अनेक सामाजिक बलों द्वारा विवश करने वाली बदलती परिस्थितियों का प्रतयुतर देता है, राज्य बदलते समाज का प्रत्युतर देता है। राज्य हमेषा समाज के बदलते रिष्तों को प्रकट करता है। जैसा कि समाज निरन्तर स्वयं को पुनर्सम्पादित करता रहता है ऐसा ही राज्य भी करता है।

नागरिक समाज के उदारवादी और मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्यों में बेहद अंतर है। उदारवादियों के अनुसार नागरकि समाज लोकतांत्रिक राज्यों को पहले से ही राज्यों के दायित्व राज्य–सत्ता पर नियंत्रणों स्वैच्छिक जीवन के प्रति उत्तरप्रदत तथा नागरिक समाज की अन्तक्रियाओं से सम्पन्न मानकर चलता है। मार्क्सवादियों के अनुसार नागरिक समाज वर्ग संघर्षों स्वार्थपूर्ण प्रतिस्पर्धा व शोषण का अखाड़ा ही है, राज्य जहां अधिकार धारक वर्गों के हितों की रक्षा करने का काम करता है। उदारवादियों के साथ–साथ मार्क्सवादियों की भी अन्तदृष्टियों को अपनाने वाली किसी नागरिक समाज–संबंधी परिभाषा को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए–

(1) राज्य–सत्ता को नियंत्रित अवष्य किया जाना चाहिए और उसे एक स्वतंत्र नागरिक की लोकतांत्रिक प्रथाओं के माध्यम से उत्तरप्रद होना चाहिए।

(2) राजनीतिक दायित्व न सिर्फ संविधानों कानूनों व नियमों में ही न न्यस्त रहे, प्रत्युत सामाजिक संरचनाा अथवा उस विषय–वस्तु में भी रहे जिसे हैबरमस राजनीतिक जनता की योग्यता पुकारते हैं, जो बदले में निम्नलिखित निहितार्थ रखती है : 1) इसका अर्थ है कि लोग आम मुद्दों के अखाड़े में तर्क–वितर्कों तथा राज्य हस्तक्षेप से मुक्त चर्चा व संलाप में एक–दूसरे के साथ आते है : 2) यह सूचित करती है कि संलाप सभी के लिए सुगम्य है; और 3) यह एक ऐसे स्थान का संकेत देती है जहां सार्वजनिक चर्चा तथा बहस हो सकती है।

(3) लोकतांत्रिक मूल्य व प्रक्रियाएँ सामाजिक व्यवस्था में आत्मात करनी पड़ती है।

(4) नागरिक समाज की समाज का सार्वजनिक क्षेत्र है। यही इन प्रक्रियाओं का स्थान–निर्धारण है जिसके द्वारा व्यक्तियों व समुदायों के अनुभवों तथा बहसों व चर्चाओं में अनुभवों की अभिव्यक्ति अभिपुष्टि व व्यवस्था का सम्पर्क सूत्र बनाया जाता है। यह एक रंगमंच भी है जहाँ निजी व सार्वजनिक के बीच द्वन्द्ववाद के प्रबन्ध किए जाते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज राज्य द्वारा उन्मुक्त किए गए समकालिक "दाँवयोगीकरण" का "अतिक्रमण" तथा प्रतिकार करने का प्रयास करता है। यह एक ऐसा स्थल है। जहाँ राज्य को आम राय तथा अनुभवों को इच्छित रूप देना निषिद्ध है।

7.3 राज्य की अवधारणा : एक पर्यवलोकन

राज्य चूँकि राजनीतिक सिद्धांत का यथार्थ मर्म है उसे प्राचीन यूनान के समय ही विभिन्न राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा भिन्न–भिन्न रूप से परिभाषित किया गया है। कुछ के लिए यह बलपूर्वक शासन की एक संस्था है जबकि दूसरों के अनुसार जनता के अधिकारों का यही परिरक्षक है। जबकि विप्लववादियों की भाँति कुछ तो राज्य को फौरन ही समाप्त कर देना चाहते हैं गैर–मार्क्सियन रंगत लिए समाजवादियों की भाँति अन्य लोग समाजवाद की स्थापना करने के लिए उसे टिका देखना चाहते हैं।

इस तथ्य के बावजूद कि राज्य का अर्थ भिन्न–भिन्न लोगों द्वारा भिन्न–भिन्न लिया गया है हम राजनीतिक सिद्धांत में जो राज्य का प्रमुख स्थान है उससे इंकार नहीं कर सकते। हमारे लिए यह बेहतर होगा कि हम समाज की तुलना में राज्य के उस अर्थ पर चर्चा करने का प्रयास करें जो हमें अधिकांश पूर्वी राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा बतलाया गया है।

7.3.1 पूर्व–आधुनिक परम्परा

राजनीतिक सिद्धांत में प्लेटो की सारी रचनाओं में एक सशक्त दृभटांत है जो वह एक सर्वशक्तिमान शासन के पक्ष में प्रस्तुत करते हैं। समस्या जिसके पीछे प्लेटो लगे रहे वह यह नहीं थी कि किसी सरकार को कितना अच्छा बनाया जा सकता है बल्कि यह थी कि सरकार को कितनी अच्छी तरह यथाविधि अधिकृत किया जा सकता है। यह सरकार का ही काम है प्लेटो ने एक से अधिक बार अभिपृष्टि की कि वह लोगों को एक समूचा जीवन जीने में मदद करे। यह इस प्रकार प्लेटो के लिए महज एक सरकार का मसला नहीं है वरन एक समुचित सरकार का मसला है महज एक चाहे जैसी सरकार नहीं बल्कि एक एक परिपूर्ण सरकार वह सरकार जो उन सभी के लिए सुख–शान्ति लाने में समर्थ हो जो उसके अंतर्गत वास करते हैं। प्लेटो के अनुसार राज्य रिश्तों की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें हर व्यक्ति अपना काम करता है और जहाँ राज्य का काम है कायम रहना और ऐसे रिश्तों का बढ़ावा देना।

अपने गुरु प्लेटो का अनुसरण करते हुए अरस्तू ने राज्य को इस रूप में परिभाषित किय एक समुदाय रूप में पॉलिस जो सर्वोच्च कल्याण हेतू अस्तित्वपरक है। उनका कहना है कि राज्य घरों व गाँवों का एक संघ है जो नैतिक सद्गुण सम्पन्न जीवन में सहभागी होते हैं और उस लक्ष्य को लेकर चलते हैं जो परिपूर्ण एवं सव–सम्पूर्ण अस्तित्व में विद्यमान रहता है।

प्लेटों व अरस्तू दोनों तथा जहाँ तक उसका सम्बन्ध है सभी यूनानी पॉलिस को एक राज्य से कहीं अधि मानते थे। यह एक प्रशासनिक तंत्र एक सरकार अथवा एक राज्य व्यवस्था का ढंग था बल्कि एक विद्यालय एक चर्च भी था जो जीवन रीति हेतु दिशानिर्देश तय करता था जो उनके अनुसार और कुछ नहीं बस एक सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता था। प्लेटो और अरस्तू के अनुसार राज्य और समाज के बीच कोई भेद नहीं था। राज्य एक साधन था और समाज का एक अंग यह समाज में स्वंय ही निमग्न था। इसके अतिरिक्त यूनानी लोग पॉलिस को एक नैतिक दृष्टि से सही सत्ता मानते थे और यही कारण

था कि वे राज्य के शासकों द्वारा निष्पादित किए जाने वाले नैतिक दृष्टि से सही सत्ता मानते थे और यही कारण था कि वे राज्य के शासकों द्वारा निष्पादित किए जाने वाले नैतिक दृष्टि से सही प्रकार्यों को ही उन्हें सौंपते थे, तथा उत्तम, सुखी और परिपूर्ण जीवन। बार्कर लिखते हैं, यह किसी कानूनी प्राधार से कहीं अध्का है : यह एक नीति आधृत शक्ति भी है। कोई भी प्राचीन यूनानी स्वयं को कभी भी पॉलिस से विलग नहीं मानता था, वह पॉलिस का महज एक हिस्सा था, समूचे को एक हिस्सा। बार्कर कहते हैं, यहां व्यक्ति थे, राज्य से भिन्न तो भी राज्य को आकर देते उनके साहचर्य में। वेपर भी कहते हैं ताकि जीने लायक जीवन का कोई अर्थ हो और केवल पॉलिस में ही उन्हें पक्का भरोसा था, उन्हें अर्थ अवाप्त हुआ। प्राचीन यूनान में राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टि से सही जीवन के बीच कोई फर्क नहीं था। समाज ही राज्य था, क्योंकि राज्य प्लेटो के पक्ष में था और अरस्तू एक शासन–शक्ति : स्वतंत्र व्यक्ति, विषय–विशेषज्ञ, एक नागरिक एक विधिकत्ता व समाज का एक सदस्य था; उसने एक शासन बतौर समाज पर शासन किया। प्राचीन यूनानी युग के दास–धारक समाज से शायद ही उम्मीद की जा सकती थी कि व राज्य को कोई सिद्धांत देगा, केवल ऐसा नहीं समाज को कोई सिद्धांत सरकार के सिद्धांत से कुछ अधिक स्टीक रूप से शासकों का सिद्धांत भी देगा।

राज्य की अवधारणा देने का श्रेय सिसरो की कृतियों को जाएगा जो कि कोई पॉलिस नहीं बल्कि एक राष्ट्र–मण्डल है। प्राचीन यूनानियों की ही भांति, सिसरो भी राज्य को समाज में निमग्न एक अंग यथा समाज का एक अभिन्न अंग मानते हैं। सिसरो कहते हैं, राष्ट्रमण्डल तदनुसार जनता का मामला ही है और राष्ट्र किसी भी तरीके के सम्बद्ध हरेक जन–समूह नहीं होता, बल्कि उन लोगों की एक गण्य संख्या का एक साथ उपलब्ध होना होता है, जो कानून वे अधिकारों के विषय में एक सर्व–सम्मति द्वारा और परस्पर लाभों में भागीदार होने की एक इच्छा द्वारा एकीकृत होते हैं। इस बात से सिसरो का राज्य सम्बन्धी सिद्धांत निम्न प्रकार समझा जा सकता है : 1) राज्य को जन–समूहों यथा समाज से अलग माना जाता है : 2) लाग राज्य में प्रविष्ट हो जाते हैं जो उन्हें कानूनी समुदाय बनाने की ओर प्रवृत्त करता है : 3) राज्य अस्तित्ववान रहता है जब लोग उसके मामलों में भाग लेने को सहमत होते हैं सिसरो के सिद्धांत में समाज–सिद्धांत से भिन्न एक राज्य–सिद्धांत है; वह राज्य व समाज के बीच भेद करते हैं; उनका राज्य–सिद्धांत सरकार–सिद्धांत के साथ–साथ एक राजनीतिक–समुदाय सिद्धांत भी है।

पश्चिम में मध्यकालीन राजनीति–सिद्धांत मुख्यतः ईसाइयत से सम्बन्ध रखता था, जहां सामाजिक जीवन पोप के नेतृत्व वाले रोमन कैथॉलिक चर्च के अधिदेशों द्वारा नियंत्रित एक धार्मिक जीवन अधिक था। ईसाई लोग तमाम दुनिया पर राज करते थे और राजनीति चर्च द्वारा नियंत्रित होती थी। सांसारिक सत्ता को गिरजा–सम्बन्धी सत्ता से निकृष्ट समझा जाता था, राज्य वृहत्तर संसार हेतु एक पाद–टिप्पणी के रूप में काम करता था। राज्य मध्यकालीन यूरोपीय जगत में सिटी ऑफ गॉड यानी परमेश्वर के शहर पहुंचने के लिए साधन माना जाता था, और मानव कानून को दैवी कानून प्राकृत कानून एवं अन्ततः शाश्वत कानून के तहत काम करना होता था। राज्य को नियंत्रित करने वाला समाज नहीं था, बल्कि वे थे जो शासन को नियंत्रित करते थे– पोप, चर्च–पादरीगण, राजागण और सामन्ती शासक जो राज्य को नियंत्रित करते थे, यानी राज्य–तंत्र।

7.3.2 उदारवादी–व्यक्तिवादी परम्परा

पंद्रहवीं–सोलहवीं शताब्दियों के दौरान पश्चिमी दुनिया में आधुनिक युग के प्रवेश करते ही राज्य का एक निश्चित सिद्धांत सामने आया। उदारवादी–व्यक्तिवादी दार्शनिक गण, हॉब्स और उसके बाद राज्य को महज एक शासन की विषय–वस्तु बनाकर राज्य और समाज के बीच एक स्पष्ट भेद करने लगे। सभी उदारवादी अपने–अपने राजनीति–सिद्धांत व्यक्तियों पर आधृत कर राजनीतिक सत्ता, राज्य एक साधन रूप में स्थापित करने आये। हॉब्स जैसे कुछ उदारवादी राज्य को सभी शक्तियां प्रदान करते हुए जबकि बैन्थम जैसे अन्य इसे गैर–हस्तक्षेपवादी राज्य बनाते हुए। सभी उदारवादी एक स्वायत्त व्यक्ति हेतु तर्क देते हैं यथा वैयक्तिक स्वायत्ता हेतु वह उपाधि जो दार्शनिक दार्शनिक पर भिन्न–भिन्न है। उदारवादियों की उपाधियों में शामिल थे वैयक्तिक स्वतंत्रताएं, अधिकार इतने सेवार्पित जैसे कि स्वाभाविक लोकाचार कानून का शासन मुक्त प्रतिस्पर्धात्मक व पण्य अर्थव्यवस्था सभी राज्य हस्तक्षेप से मुक्त रहने के लिए। आरम्भिक आधुनिक राजनीति–सिद्धांत राज्य और सरकार के बीच भेद नहीं कर सकता था सभी लोग राज्य–सत्ता को राजनीतिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता को सरकार की शक्ति के रूप में लेते थे।

मैकाइवयिन राज्य राजनीति–विज्ञान में स्टेअ यानी राज्य शब्द के प्रचलन का श्रेय मैकाइवली को जाता है चाहे राजतंत्र हो या गणतंत्र एक सत्ता–राज्य होता है, जिसका अर्थ है कि सत्ता के लिए ही विद्यमान है और सत्ता के कारण ही अस्तितव रखता है तथा जिसकी खास दिलचस्पी अपने ही प्राधिकार को कायम रखने बढ़ाने और विस्तार देने में ही होती है। बोदां के अनुसार राज्य है परम शक्तियों के साथ विभिन्न कुटुंबों व उनके सर्वमान्य मामलों की एक वैध सरकार राज्य के मामलों को जनता से सम्बद्ध मानते हुए। मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य साध्य अथवा अभिप्राय हॉबस कहते हैं, उनके अपने बचाव की और एक अधिक तर्कसिद्धि जीवन की परिणामदर्शिता ही है।

लॉक के पास उदारवादी सिद्धांत प्रेरणा पाता है और राज्य स्वामित्व की रक्षार्थ एवं एक बेहतर आर्थिक जीवन के प्रोत्साहनार्थ सिद्ध होता है क्योंकि उदारवाद पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक तत्वज्ञान के रूप में स्थायी बन जाता है, जमूरियती लज्जत इसमें विकास के एक बाद के चरण में आती है। आरम्भिक उदारवादी–लोकतांत्रिक सिद्धांत ने राज्य की भूमिका को अल्पतम सीमा तक बांध कर दिया एक ओर अपने नागरिकों के जीवन स्वतंत्रता व स्वामित्व को बाह्य आक्रमण व आन्तरिक अव्यवस्था से बचाते हुए तथा दूसरी ओर न्याय व सार्वजनिक कार्य–व्यवस्था एवं सुख–सुविधाएं मुहैया कराते हुए, साथ ही उसकी लोगों की भलाई हेतु लेशमात्र भी भूमिका नहीं थी।

पहले जॉन मिल तथा बाद में टी0 एच0 ग्रीन ही थे जिन्होंने एक ऐसे प्रेरक वातावरण को तैयार करने में राज्य की सकारात्मक भूमिका को विस्तार दिया, जहां व्यक्ति जीवन का एक बेहतर जरिया अख्तियार कर सके। मिल और ग्रीन ने राज्य के संगठन और कार्य–व्यापार में लोकतांत्रिक तत्वों का समावेश किया यद्यपि दोनों अपनी पूंजीवादी बेड़ियों को मुश्किल से ही काट सके।

संक्षेप में कहने के लिए हम इसलिए यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मैकाइवली एवं बोदां जैसे आधुनिक राजनीति–सिद्धांती सर्वशक्तिमान राज्य से परे शायद ही देख सकते है। संविदावादियों खासकर हॉबस ने सोचा था कि नियमानुसा समाज को अस्तित्व में लाने के लिए एक सशक्त राज्य की आवश्यकता है। लॉक, स्मिथ, बैनिम जैसे आरम्भिक उदारवादियों ने इस दृष्टिकोण को रखा कि चूंकि समाज स्वयं को पुनर्प्रस्तुत एवं पुनरुजीवित करने की क्षमता रखता है राज्य और उसकी सत्ता अल्पतम होनी चाहिए। परन्तु बाद के उदारवादियों जे0 एस0 मिल, टी0 एच ग्रीन द तॉकविल ने महसूस किया कि बहुत से सामाजिक संघ सामाजिक योग्यता बढ़ाते–बढ़ाते ऐसे साधन बन सकते हैं जिनके माध्यम से व्यक्तिजन एक ऐसे राजनीति–सिद्धांत को रूप दे सकते हैं जो राज्य–सत्ता की प्रकृति को सीमित कर सकता है। उदारवादी अनेक वृत्तिभोगी, बीसवीं सदी के तीसरे व चौथे दशकों में समाज में विद्यमान अनेक संस्थाओं के लिए एक सशक्त दृष्टांत को जन्म देने में सक्षम थे, ताकि वे समाज के दावों के सामने राज्य की तुलना करते समय परवर्ती की सर्वशक्ति सम्पन्नता पर अंकुश रख सकें।

7.3.3 मार्क्सियन परम्परा

राज्य का मार्क्सियन सिद्धांत उदारवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया स्वरूप में उभरा। मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य व समाज दो भिन्न सत्ताएं हैं, यद्यपि राज्य समाज से स्वतंत्र नहीं हैं। समाज का प्रकार राज्य के प्रकार की व्याख्या करता है। समाज की वह आधार प्रदान करता है जिस पर अन्य आधृत सिद्धांत या विचार टिके हैं। मार्क्सवादी राज्य को किसी वर्ग समाज के एक उत्पाद रूप में लेते हुए यह मानते हैं कि राज्य आविष्ट वर्ग का रक्षण व समर्थन करती हुई और अनाविष्ट वर्ग का उत्पीड़न व अवपीड़न करती हुई एक संस्था हो। उनके अनुसार राज्य वर्ग शासन का एक इंजन हैं परन्तु यह सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन का भी एक हथियार है इसका नकारात्मक कार्य है पूर्ववर्ती समाज के अवशेषों को नष्ट कर देना जबकि यह अपने रचनात्मक कार्यों से उस वर्ग की संरचना व संस्कृति का निर्माण करता है जिसके द्वारा वह चलाया जाता है।

चन्धोक राज्य सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धांत के तीन सैद्धांतिक क्षणों की पहचान करती हैं। प्रथम ऐसा क्षण तब रहा जब मार्क्स व एंजिल्स, मैनिफैस्टो ऑफ कम्युनिस्ट पार्टी में आधुनिक राज्य की कार्यकारिणी को समग्र पूंजीवादी वर्ग के सर्वसामान्य मामलों के प्रबंधार्थ एक समिति मानते हैं मार्क्स टुवर्ड्स ऐ क्रिटीक ऑफ पॅलिटिकॅल इकॉनॅमी की प्रस्तावना में भी लिखते हैं, इन उत्पादन–सम्बन्धों की समग्रता समाज के आर्थिक प्राधार यथार्थ आधार का निर्माण करती है जिस पर एक कानूनी एवं राजनीतिक अधिरचना जन्म लेती है और जो सामाजिक चेतना के परिभाषित रूपों के अनुकूल होती हैं।

राज्य का यह आधार–अधीनस्थ करते समय सर्व–शक्तिमान राज्य के हैगैलियन मॉडल के खिलाफ एक प्रतिक्रिया स्वरूप भी समाज से दूर खड़ा था। दूसरा क्षण जो उन्नीस सौ साठ के दशक के आसपास और राल्फ मिलिबां एवं हमजा अल्वी के साथ आया राज्य की प्रकृति व समाज के साथ अपने सम्बन्ध पर प्रश्न करता है। इसमें राज्य अपने ही हक में एक भिन्न सैद्धांतिक विषय के रूप में उभरता है और राज्य–केन्द्रिक सिद्धांत राजनीति–सिद्धांत की प्रबल धारा के रूप में उभरा। तीसरा सैद्धांतिक क्षण निकों पुलैन्तजास एवं क्लौस ऑफ के योगदानों से संभव बनाया गया। इस क्षण देखा गया कि राजनीति–सिद्धांतियों के अवधारणाओं व सिद्धांतों के साथ पूर्वाधिकार कर लिया। ग्राम्सी जिन्होंने नागरिक समाज के राजनीतिक विचार रूप में राज्य को वैचारीकृत कर दिया था का अनुसारण करते हुए तृतीय सैद्धांतिक क्षण के मार्क्सवादी राजनीति–सिद्धांतियों ने उस सामाजिक वर्ग के रूप में नागरिक समाज में एक सर्पिल गति से बढ़ती रुचि पैदा कर दी जहाँ अर्थपूर्ण प्रथाएं शासक व विनाशक दोनों लोकप्रिय है।

7.4 नागरिक समाज की अवधारणा : एक पर्यवलोकन

नागरिक समाज की संकल्पना पाश्चात्य बौद्धिक परम्परा से जुड़ी हैं वीरगाथात्मक परिवर्तनों के साथ ही पश्चिम में नागरिक समाज का विचार उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। अनेक कारक राज्य की संकल्पना को विकसित करने में जुटे हैं क्योंकि यह हमारे साथ ही रहने आया है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इन कारकों में कुछ के उल्लेखार्थ शामिल रहे– धर्मनिरपेक्ष प्राधिकरण का उदय स्वामित्व–सम्बन्धी संस्था का विकास निरंकुश राज्य का पतन शहरी संस्कृति का विकास राष्ट्रवादी व लोकतांत्रिक आन्दोलनों का उदय तथा कानून का शासन। जिस प्रकार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अपने लोकतंत्रीकरणशील अभिलक्षणों के साथ विकसित हुई है ऐसा ही नागरिक समाज की संकल्पना ने किया है।

7.4.1 पूर्व–आधुनिक परम्परा

यदि नागरिक समाज की धारणा अपने में इस बात का विचार रखती है कि सार्वजनिक क्या है, पूर्व–आधुनिक काल को सहज रूप से नागरिक समाज की अवधारणा के विरुद्ध माना जा सकता है। प्लेटोनिक शासक अकेले ही प्रशासक होते थे और उनमें से बड़ी संख्या उन लोगों की थी जिनकी सार्वजनिक मामलों में कोई भूमिका नहीं होती थी और उनमें से बड़ी संख्या उन लोगों की थी जिनकी सार्वजनिक मामलों में कोई भूमिका नहीं होती थी और जो उत्पादक वर्ग का निर्माण करता था। अरस्तू की जून पॅलिटिकॅन यानी मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी के रूप में सम्बन्धी धारणा इस अर्थ में लचर थी कि 1) राजनीतिक प्राणी पुरुष होता था 2) वह अकेले ही नागरिक होता था 3) वह अकेले ही स्वामित्वधारक होता था। जनसंख्या का शेष भाग महिलाएं दास आदि ऑइक्स यानी असार्वजनिक संसार का निर्माण करता था और मुश्किल से ही नागरिक समाज का निर्माण करता कहा जाता था। चूंकि असार्वजनिक सार्वजनिक नहीं था, यह राजनीतिक नहीं था और इससे सम्बन्ध रखने वाला कोई भी व्यक्ति नागरिकता अधिकार नहीं रखता था। यूनानी समाज चन्धोक बताती हैं वैयक्तिक स्वतंत्रता हेतु मनुष्य की कोई भी संक्राम्य अधिकार सम्बन्धी धारणा नहीं रखता था जो कि नागरिक समाज की आरभिक व्याख्या का एक इतना प्रमुख अभिलक्षण बन गया।

अधिकारों की अवधारणा विकसित करके कानूनी रूप से विहित और विशेष रूप से व्यक्ति के स्वामितव से सम्बन्ध रखते हुए प्राचीन रोमन विचारणा में नागरिक समाज की धारणा ने जन्म लिया। दरअसल नागरिक समाज की धारणा को ऐसे वातावरण की आवश्यकता थी जिसमें वह अपने को ढाल सके, परन्तु प्राचीन रोमन विचार शायद ही उससे ऊपर जा सकता था। इसके बावजूद भी असार्वजनिक व सार्वजनिक के बीच भेद करने के प्रयास हो रहे थे जिसमें प्राचीन–रोमवासी वास्तव में सफल रहे। पश्चिम में सम्पूर्ण मध्यकाल के दौरान जब राजनीति को एकदम पीछे रखा जाता था, नागरिक समाज के विचार का महत्त्व कम हो गया। राजनीतिक के रूप में सार्वजनिक से जो कुछ भी सम्बन्धित था। बहुत ही थोड़े लोगों तक सीमित था जिन्हें सामन्ती लॉर्ड बैरन डयूक और काउण्ट कहा जाता था। नागरिक समाज का विचार अज्ञातप्राय था।

7.4.2 उदारवादी–व्यक्तिवादी परम्परा

आरंभिक आधुनिक काल में मैक्यवली व बोदां के साथ राजनीति का उदय देखा गया परन्तु इस काल ने स्वयं नागरिक समाज–सम्बन्धी विचार की अनुकूल वृद्धि नहीं देखी। नागरिक समाज एक संकल्पना के रूप में अधिकारधारक व्यक्तियों राज्य से सम्बन्धित व्यक्तियों तथा समाज में दूसरे से सम्बन्धित व्यक्तियों का विचार लेकर उठा।

हॉबस व लॉक दोनों में नागरिक समाज का स्पष्ट संदर्भ है जहां ये दोनों ही अनुबंध हो जाने के बाद प्रकृति के राज्य और नागरिक समाज अथवा राजनीतिक समाज के बीच भेद करते हैं। दोनों ही अधिकारधारक व्यक्तियों के बारे में बतलाते हैं; दोनों ने ही इन अधिकारों की रक्षार्थ राज्य की शरण ली। संविदावादियों हॉबस व लॉक को नागरिक समाज के सिद्धांतवादियों के रूप में लेना मुश्किल है क्योंकि पद्ध नागरिक समाज पर उनके प्रतिपादन एक अपरिपक्व अवस्था में हैं और पपद्ध उनके प्रयास राज्य व समाज पर एक युक्तियुक्त एवं विश्वासोत्पादक व्याख्या के बावजूद यादृच्छिक रहे।

नागरिक समाज की संकल्पना सत्रहवीं व उन्नीसवीं शती के बीच रूप से उभरी खासकर एडम स्मिथ जैसे विख्यात राजनीतिक अर्थव्यवस्था–सिद्धन्तियों के सहारे। शास्त्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने अहस्तक्षेप–सिद्धांत स्वतंत्रता समानता जैसे वैयक्तिक अधिकारों की हामी भरते हुए राज्य की संस्था को उसका अवमूल्यन करते हुए सहज की अप्रासंगिक बना दिया और नागरिक समाज की संस्था को वह रूप दे दिया जिसे मार्क्स ने इतिहास का रंगमंच कहा था। इसने नागरिक समाज की मदद की चन्धोक लिखती है वैयक्तिक अधिकारों व स्वतंत्रताओं के एक ऐतिहासिक रूप से उत्पन्न क्षेत्र के रूप में जहां एक–दूसरे से होड़ में लोग निजी स्वार्थ साधने में ही लगे रहे।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था सिद्धांतियों के लेखों से आये नागरिक समाज सम्बन्धी विचार का आगमन को अपना आकार राज्य की तुलना में ग्रहण करना था। जे0 एस0 मिल एवं द तॉकविल जो यह सोचते थे कि राज्य इच्छा से अधिक शक्तिशाली हो चुका है ने नागरिक समाज की सदा–विकासमान कल्पना में अविष्कृत यंत्र–क्रियाविधि के माध्यम से राज्य की शक्ति को परिसीमित करने का प्रयास किया। चन्धोक उदारवादी के इस चरण का यह कहते हुए निष्कर्ष निकालती हैं कि नागरिक समाज एक संकल्पना के रूप में मुख्यतः राज्य समाज सम्बन्धों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए प्रयोग किया जाता था। राज्य का विस्तार यह बोधक्षम रूप से जान लिया गया नागरिक रणक्षेण के संकुचन में योगदान देगा। राज्य–सत्ता सिर्फ नागरिक समाज के सहारे ही सीमित की जा सकती थी।

पश्चिम में लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने नागरिक समाज के लिए यह संभव बना दिया कि वह स्वयं विस्तीर्ण हो और प्रक्रिया में राज्य के क्षेत्र को सीमाबद्ध कर दिया। परन्तु अन्यत्र नहीं राज्य की संकल्पना ने इस प्रकार नागरिक समाज के रणक्षेत्र को सीमाबद्ध करते हुए प्रमुखता प्राप्त कर ली हेगैल के विचार और इसी कारण मार्क्स व ग्राम्सी के विचार कुछ रुचिकर हो सकते हैं।

7.4.3 हैगेलियन, मार्क्सियन और ग्राम्सियन परम्पराएं

हेगैल के लेखों में राज्य व नागरिक समाज के बीच एक निश्चित सम्बन्ध हैं वह राज्य को विभिन्न संस्थाओं के बढ़वार से पनपते अंततम सम्बन्ध के रूप में देखते हैं। राज्य का वर्णन सार्वत्रिकता का प्रतिनिधित्व करते परिवारों के विषय–विशेष तथा नागरिक समाज सम्बन्धी वैपरीत्य के संयोजन के रूप में करते हुए हेगैल राज्य को नागरिक समाज की अपेक्षा उच्च जिन्स के रूप में देखते हैं। हेगैल राज्य को सामाजिक संस्थाओं का उच्चतम नीवनतम और यहां तक कि अन्तिम रूप भी मानते हैं उनके अनुसार नागरिक समाज परिवार– सम्बन्धी विषय–विशेष की विपरीतता के रूप में उस मध्यवर्गीय वाणिज्यिक समाज के वैयक्तिक एवं अणुकृतकारी वातावरण हेतु एक अभिव्यक्ति है जिसमें सम्बन्ध बाह्य होते हैं जो लोगों की आत्म–सचेत इच्छा द्वारा होने की बजाय आर्थिक कानूनों के अदृश्य हाथ द्वारा नियंत्रित होते हैं। अतः नागरिक समाज एक नकारात्मक संस्था जैसी कि वह हेगैल के अनुसार है वैयक्तिक इच्छाओं के अयुक्तिसंगत बलों के एक परिणाम बलकृत आवश्यकता के विषय से सम्बन्ध रखता है जो कि जैसा कि सैबाइन हेगैल के लिए कहते हैं इतर–नैतिक अस्थायी कानूनों तथा इस कारण नीतिशास्त्र की दृष्टि से अराजक द्वारा नियंत्रित होता है। विषय–विशेष तथा वैपरीत्य उसमें विलीन हो जाते हैं, जिसे हेगैल राज्य कहते हैं। इस प्रकार राज्य नागरिक समाज की सार्वभौमिकता तथा परिवार की विशिष्टता एवं वैयक्तिकता को ग्रहण करता सिद्ध होता है।

इस प्रकार जबकि राजनीतिक अर्थव्यवस्था तथा उदारवादी–लोकतांत्रिक सिद्धांतियों ने नागरिक समाज को प्राथमिकता दी और राज्य को एकदम पीछे रखा हेगैल ने यह स्थिति बदल दी है और वह राज्य को नागरिक समाज के स्थान पर रखते हैं। हेगैल के अनुसार अन्ततोगत्वा नागरिक समाज राज्य के और समक्ति हेतु व्यक्ति के मातहत आता है। परिणामस्वरूप हैगेलियन प्रतिपदन में चन्धोक कहती हैं राजय सार्वत्रिकता हेतु उसकी रूपरेखा अथवा उस तर्काधार पर कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता है। नागरिक समाज के विवाद का हल राज्य ही और इसी कारण जन–समाज व राजय के बीच कोई न्याय–द्वैदाश्य नहीं सिर्फ वैधता एवं स्वीकृति है।

मार्क्स हेगैल से भिन्न जिन्होंने नागरिक समाज को एक बन्धक व्यक्ति बना दिया था और जिन्होंने राज्य को आदर्शीकृत किया था नागरिक माज को इतिहास का रंगमंच बनाने की अवस्था तक उसकी पुनर्प्राप्ति हेतु प्रयास करते हैं। परन्तु नागरिक समाज मार्क्स का तर्क है अपने वायदों को पूरा करने में असफल रहा है, ऐसी स्थिति पैदा करने में विफल रहा है जहां व्यक्ति आजादी और जमूरियती बदलाव देख सके उसे ऐसी विधियों व साधनों का सहारा लेना पड़ा जिसके माध्यम से लोग समाज व राज्य के भीतर एकीकृत हो सकें।

ग्राम्सी मार्क्स का अनुसारण करते हुए ओर राज्य–सम्बन्धी अपना ही सिद्धांत विकसित करते हुए नागरिक समाज की वास्तविकता का ध्यान रखते हैं। उनका मुख्य कथन है कि हम नागरिक समाज को समझे बगैर राज्य को नहीं समझ सकते हैं। उनका कहना है कि राज्य को न सिर्फ सरकार के राजनीतिक तंत्र के रूप में लिया जाना चाहिए बल्कि आधिपत्य अथवा नागरिक समाज के निजी तंत्र के रूप में भी लिया जाना चाहिए। राज्य की मार्क्सियन अवधारणा पर भरोसा करते हुए ग्राम्सी एक राजनीतिक संगठन के रूप में राज्य और सरकार के रूप में राज्य के बीच भेद करते हैं। अंगभूत राज्य नागरिक समाज में स्थापित गतिविधियों के माध्यम से रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की जद्दोजहद में स्वयं को लघुकृत करता रहता है। आधिपत्य ही नागरिक समाज में व्यवहार हेतु नैतिक व मानसिक नेतष्त्व प्रदान करता है। आधिपत्य ग्राम्सी के अनुसार दोनों के लिए काम करता है नागरिक समाज में प्रभुत्वसम्पन्न के साथ–साथ सबसे निचले ओहदे के वर्ग के लिए भी। हरेक वर्ग को अवश्य ही ग्रम्सी के अनुसार सत्ता हासिल करने से पहले समाज में सामाजिक सम्बन्धों का आधिपत्यीकरण करना चाहिए।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के लोगों के लिए नागरिक समाज मुख्य है। जबकि उदारवादीजन राज्य की स्वायत्तता से नागरिक समाज के पृथक्करण हेतु तर्क रखते हैं मार्क्सवादीजन दूसरी ओर नागरिक समाज की एक वैकल्पिक परम्परा का निर्माण करते हैं जिसमें नागरिक समाज को अपनी सभी क्षमताओं के सहारे स्वयं को हमेशा मान्य और रुपान्तरित रखना पड़ता है।

7.5 राज्य और नागरिक समाज के बीच सम्बन्ध

राज्य व नागरिक समाज के बीच सम्बन्ध का महत्त्व है जहां तक कि वह प्रत्येक तुलनात्मक स्थिति को दूसरे के सम्बन्ध में बतलाता है। कुछ विश्लेषणों में इस सम्बन्ध का एक शून्य–राशि क्रीड़ा के रूप में वर्णन किया जाता है : राज्य जितना सशक्त होगा, नागरिक समाज उतना ही कमज़ोर होगा; स्पष्टतः राज्य की गतिविधि का क्षेत्र–विस्तार नागरिक समाज की भूमिका कम करने में मदद करेगा सभ्य समाज का क्षेत्र विस्तार दूरी ओर राज्य की भूमिका घटाने में मदद करेगा। मौजूदा जमाने के आधुनिक उदारवादी समाजों में नागरिक समाज का दायरा राजय–क्षेत्र से कहीं अधिक बड़ा है जबकि किसी भी प्रकार की तानाशाह राज्य–व्यवस्थाओं में राज्य का दायार नागरिक समाज के दायरे से कहीं अधिक बड़ा होता है।

7.5.1 राज्य और समाज : संघटनकारी संबंध

राज्य और नागरिक समाज दो परस्पर विरोधी संकल्पनाएं नहीं हैं। एक संकल्पना दूसरे के साथ विवाद में नहीं पड़ती। इनमें से कोई भी एक दूसरे की प्रतिपक्ष नहीं है। दोनों को एक–दूसरे का इलाका हड़पने के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। यह इन दोनों के बीच कोई शून्य–राशि क्रीड़ा सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः अपेक्षाकृत रूप से अधिक सशक्त राज्य नागरिक समाज की भूमिका पर एक पारितोषिक रखता है परन्तु यह किसी भी प्रकार नागरिक समाज की प्रभाविता को कम नहीं करता। इच्छा स्वातंत्रयवादी दृष्टिकोण हेयर अथवा नोजिक के लेखों में व्यक्त कि राज्य नागरिक समाज का दमन करने की प्रवृति रखता है, कमोबेश दुर्स्थापित है। बात की सच्चाई यह है कि राज्य और नागरिक समाज के बीच सम्बन्ध परस्परिक है; ये सम्बन्ध अख्ण्ड्य प्रवृत्ति के हैं हर एक दूसरे के महत्त्व को मज़बूती प्रदान करता हैं राज्य के बिना नागरिक समाज के सफलतापूर्वक कार्य करने की कल्पना करना दरअसल मुश्किल है। हम देखते हैं कि एक ही समय नागरिक को सीमाबद्ध किया जाता है और उसके द्वारा संरक्षण दिया जाता हैं राज्य ही वह संघट्य ढांचा जैसा कि कानूनों एवं नियमों में व्यक्त है सभी के द्वारा स्वीकार किया जाता है। इस ढांचे का निष्पक्ष रूप से और समाज की सहभागित संस्कृति के साथ सुसंगत रीति से देख–रेख किए जाने की आवश्यकता है। हम इस संघट्य ढांचे के बिना जीवन की कल्पना नहीं कर सकते हैं जो कि एक सामांजस्यता की स्थिति पैदा करता है और जिसके बिना नागरिक समाज अनागरिक हो जने की

संभावना रखता है। नागरिक समाज को मुखर होना पड़ता है सर्व–शक्तिशाली राज्य के बावजूद ताकि वह नौकरशाह युक्तियों को चुनौती दे सके वरना वह सख्ती में दबकर रह जाएगा। इस प्रकार राज्य व नागरिक समाज के बीच पारस्परिकता ही है जो महत्त्वपूर्ण है अथवा कम से कम महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। राज्य–सत्ता का प्रयोग नागरिक समाज के वृहतर और अधिक व्यापक क्षेत्र में किया जाना होता है, साथ ही नागरिक समाज को राज्य–सत्ता के प्रति सजग रहना पड़ता है ताकि वह निरंकुशवाद में न निकृष्ट हो जाए।

7.5.2 राज्य नागरिक समाज और लोकतंत्र

इन दो संकल्पनाओं राज्य व नागरिक समाज का आपस में कोई विवाद नहीं है। लोकतंत्र दोनों को एकीकृत करता है। राज्य के दावे नागरिक समाज द्वारा मजबूत होते हैं और नागरिक समाज राज्य के माध्यम से अधिक स्थिर बनाया जाता है। दोनों को ही एक लोकतांत्रिक ढाँचे : लोकतांत्रिक नागरिक समाज के ढांचे के भीतर लोकतांत्रिक राज्य में काम करना होता है। एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में राज्य व नागरिक समाज प्रत्येक के प्रभावी कार्यसंचालन हेतु मिकर काम कर सकते हैं। राज्य को लोकतांत्रिक रूप से संघटित किया जाना होता है जहां उसकी शक्तियां विकेन्द्रीकृत होती हैं और उसके कार्य पूर्व–निर्धारित नियमों व प्रक्रियाओं के भीतर ही संपादित किए जाते हैं। इस प्रकार के राज्य को नागरिक समाज की सदा–वर्धमान मांगों का जवाब देना पड़ता है। उसकी भूमिका कमोबेश समन्वय करने की होनी चाहिए उसको कम से कम लोगों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करना पड़ता है उसको स्वभावत नियामक होना पड़ता है।

नागरिक समाज को अधिक मुखर और असदृश होना पड़ता है। उसे राज्य के साथ और उसका निर्माण करने वाले सभी संघटकों के भीतर निरन्तर व सतत बातचीत जारी रखनी पड़ती है। उसका क्षेत्र स्वतंत्र रूप से और मुक्त रूप से निर्दिष्ट करना पड़ता हैं जहां युक्तियां जनमत और सार्वजनिक संलाप को राज्य–मुक्त बनाती रहीत हैं।

उदारवादी–लोकतांत्रिक राज्यों व नागरिक सामाज से सम्बन्ध रखने वाली शक्तियों की एक सतत अन्तक्रीड़ा होती रहती है हर एक द्वारा दूसरे पर अपनी छाप छोड़े जाते हुए तानाशाह राज्य–व्यवस्थाओं में राज्य–सत्ता को नागरिक समाज के नियंत्रण हेतु प्रयोग किया जाता है और नागरिक समाज राज्य में एकीकृत हो जाता है। राज्य नागरिक समाज की ही बात करता है। लोकतंत्र अकेले ही राज्य को नागरिक समाज से मिलाता हैं राज्य ज्यादा देर कायम नहीं रह सकता यदि वह लोकतंत्र से भाराक्रांत न हो नागरिक समाज का अस्तित्व बना नहीं रह सकता जब तक कि वह लोकतांत्रिक रूप से संरचित न हो और लोकतांत्रिक रूप से काम न करता हो।

कोई लोकतांत्रिक राज्य बना नहीं रह सकता यदि वह अवरोधक अवपीड़क निषेधक और थोपा हुआ हो वह नहीं अस्तित्व रख सकता यदि वह नागरिक समाज को परिपूर्ण व्यवस्था में प्रस्तुत न करें वह नहीं बना रह सकता यदि वह लोगों को अधिकारों व स्वतंत्रताओं की गारंटी न दे। हरेक व्यक्ति को काम करने की इजाजत न दे वह नहीं बना रह सकता एक–एक नागरिक राज्य पर समान दावा न रखें यदि हरेक नागरिक को मुनष्य के रूप से सम्मान न मिले।

7.6 सारांश

राज्य महज हुकूमत नहीं है यह एक राजनीतिक समुदाय भी है। ग्राम्सी कहते हैं यह सभ्य समाज का दृश्यराजनीतिक है जिनकी जिसमें उन गतिविधियों की समग्र समष्टि सन्निहित है जिनकी मदद से एक शासक वर्ग अपना प्रभुत्व कायम रखता है और इसमें वे तरीके भी शामिल हैं जिनसे वह उनकी रज़ामंदी हासिल करने का इंतजाम करता है जिन पर वह शासन करता है। दूसरे शब्दों में यह नागरिक समाज में सत्ता के मध्यबिन्दुओं पर आधारित संस्थाओं व प्रथाओं की एक समष्टि है। यह एक सामाजिक सम्बन्ध है और मानो सामाजिक संरचना की विविध्बद्ध सत्ता यही है।

सभ्य समाज में मान्यताओं मूल्यों व संस्थाओं की एक सम्पूर्ण श्रृंखला होती है जैसे– राजनीतिक सामाजिक व नागरिक अधिकार कानून का शासन प्रतिनिधि संस्थाएं एक सार्वजनिक स्थान तथा सर्वोपरि संघों का बाहुल्य।

ये दो अवधारणाएं राज्य व नागरिक समाज समय के साथ विकसित हुई हैं और उनके साथ–साथ उनके अभिलक्षण भी विकसित हुए हैं। दोनों ने एक दूसरे को अनुकूल महत्व देते हुए परस्पर सम्बन्ध निभाया है। राजनीतिक अर्थव्यस्था और उदारवाद के उद्‌गमन के साथ ही सभ्य समाज ने एक निश्चित सम्पृक्तार्थ ग्रहरण कर लिया खासकर राजय के सम्बन्ध में।

राज्य और सभ्य समाज एक–दूसरे से गहरे जुड़े हैं। सभ्य समाज के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती और नागरिक समाज के बारे में राज्य के बिना नहीं सोचा जा सकता है। ये दोनों अखण्डय सम्बन्धों में विद्यमान रहते हैं। राज्य लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में नागरिक समाज की रक्षा करता है और नागरिक समाज राज्य को मजबूती प्रदान करता हैं तानाशाह शासन–प्रणालियों में राज्य नागरिक समाज पर नियंत्रण रखता है।

7.7 अभ्यास

1. पश्चिम में 'राज्य' शब्द कैसे प्रचलन में आया?
2. राज्य की लाक्षणिक विशेषताओं को संक्षेप में बताएं?
3. राज्य– सम्बन्धी प्राचीन यूनानी दृष्टिकोण को संक्षिप्त बताएं?
4. मार्क्सवादी लोग राज्य को मध्यवर्ग के सामान्य क्रियाकलापों को नियंत्रित करने वाली समिति क्यों मानते हैं?
5. राज्य की आरम्भिक आधुनिक अभिदृष्टि स्पष्ट करें।
6. नागरिक समाज क्या है?
7. हेगैल के नागरिक समाज– सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करें।
8. राज्य व नागरिक समाज के बीच सम्बन्ध स्पष्ट करें।
9. लोकतंत्र राज्य व नागरिक समाज के बीच अखण्डय संबंध कैसे सुनिश्चित करता है?

*****

अध्याय – 8
नागरिक समाज पर समकालीन बहस

अध्याय की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 नागरिक समाज : बदलते विचार

8.3 नए सामाजिक आन्दोलन

8.4 आमूल परिवर्तनवादी लोकतंत्र के अभिकर्त्ता के रूप में नए सामाजिक आन्दोलन

8.5 गैर–सरकारी संगठन एवं स्वैच्छिक कार्य

8.6 सारांश

8.7 अभ्यास प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

पिछले कुछ दशकों से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपनाई गई विकास सम्बन्धी नीतियों पर समग्र रूप से पुनर्विचार किया जा रहा है। ऐसा आंशिक रूप से दोनों ही ग्रामीण तथा शहरी जनता और पहाड़ी क्षेत्रों की उपेक्षित जनजातियों की आज भी बरकरार सामाजिक–आर्थिक समस्याओं के कारण करना पड़ा है। विकास सम्बन्धी ये नीतियां न केवल निर्धनता, निरक्षरता तथा स्वास्थ्य असुरक्षा की समस्याओं का हल ढूंढने में विफल रही हैं अपितु इनसे समस्याओं की वर्तमान सूची में नई समस्याएं आकर जुड़ गई हैं।

यदि हम अन्तर्निरीक्षण करें कि गलती कहां हुई तो लगभग अधिकांश विश्लेषणों में अंगुली निश्चित रूप से राज्य पर उठती है। सभी विफलताओं के लिए औपनिवेशिक भारत में राज्य केन्द्रित विकास दृष्टिकोण को दोशी माना जाता है। यद्यपि विकास कार्य भारतीय जनतांत्रिक शासनतंत्र की विचारधारा सम्बन्धी ढांचे और कार्य प्रणाली के तहत हुआ तथापि विकास परियोजना में राज्य तथा नौकरशाहों को दी गई केन्द्रीय भूमिक के कारण उन साधारण स्थानीय समुदायों जिनके लिए विकास सम्बन्धी कार्य कलाप चलाए जाने होते हैं, की वास्तविक लोकतांत्रिक भागीदारी नहीं हो सकी। आलोचकों का मत है कि यद्यपि ये नीतियां उनके नाम पर चलाई जा रही थी तथापि ये उनके लिए हितकर सिद्ध नहीं हुई।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के मद्देनजर कई नए सामाजिक आन्दोलन तथा स्वैच्छिक क्षेत्र उभरकर सामने आए जिनमें लोकतंत्र की मान्यताओं को सुदृढ़ बनाने के लिए विशिष्ट मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। सिद्धांतवादियों द्वारा किए गए विकास सम्बन्धी प्रयोगों का परिणाम नागरिक समाज की श्रेणी के उदय के रूप में हुआ। राज्य की प्रबलता की तुलना में नागरिक समाज टिक नहीं पाया जिसके कारण विकासात्मक दृष्टिकोण को जन साधारण के कल्याण के निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुंचाया जा सका। अतः इस प्रकार के विचारों के पक्षधरों का मानना है कि वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना और विकास की प्राप्ति के लिए सबसे पहले सक्रिय नागरिक समाज की पुनर्स्थापना करनी होगी। इस इकाई में हम विकास तथा लोकतंत्र के वैकल्पिक ढांचे से सम्बन्धित परिसंकल्पनात्मक तथा प्रायोगिक पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

8.2 नागरिक समाज : बदलते विचार

नागरिक समाज के बारे में बढ़ा–चढ़ाकर की जाने वाले समकालीन चर्चाओं का कारण रूस तथा पूर्वी यूरोप में समाजवादी शासनों का विघटन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में साहचर्यात्मक बहुत्ववाद को बढ़ावा देने वाली टोक्वेलियन परम्परा का पुनरोत्थान है। यह अनुमान लगाया गया है कि सोवियत संघ जैसे प्रयोग ऐसे राज्यों में नागरिक समाज की अनुपस्थिति के कारण विफल हुए हैं। नागरिक समाज को उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य की सम्पदा की संज्ञा दी गई है तथा किसी विकासशील नागरिक समाज को लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए अनिवार्य माना गया है।

नागरिक समाज की संकल्पना का रोचक इतिहास है। यह सदैव उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांतों का हिस्सा रहा है। उदारवादी विचारधारा के अनुसार नागरिक समाज का अधिकार क्षेत्र स्वतंत्र है परन्तु इसे राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है जबकि अधिकार प्राप्त व्यक्ति अन्यों के सहयोग से निजी हित में कार्य करने को मुक्त हैं। यह परिभाषा नागरिक समाज को मुक्त बाजार अथवा मुक्त अर्थव्यवस्था तक सीमित कर देती है। बाद के उदारवादी विचारकों जैसे जे. एस. मिल तथा एलैक्सिस डी टोक्विले ने नागरिक समाज को सामाजिक साहचर्य का अधिकार खेत्र माना है जो राज्य के अतिक्रमण पर अंकुश लगा सकता है। उन्हें राज्य की बढ़ती हुई शक्तियों के कारण चिंता हुई तथा उनका मत था कि सामाजिक साहचर्य के बिना यहां तक कि लोकतांत्रिक शासन भी स्वेच्छाचारी शासन बन जाएंगे।

नागरिक समाज के सम्बन्ध में आरम्भिक मार्क्सवादी परिकल्पना जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कार्यकलापों में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है के अनुसार नागरिक समाज के कार्यक्षेत्र को अति सीमित कर दिया है परन्तु यह नागरिक समाज को राज्य के अधीनस्थ मानने के लिए हीगल की आलोचना करने में सफल रही है। हीगल ने नागरिक समाज को मध्यस्थता का कार्यक्षेत्र माना है जहां आधुनिक समाज के लिए नैतिक आधार बनाने हेतु व्यक्ति के विशेष हितों तथा राज्य के सार्वभौमिक हितों का सामंजस्य किया जा सके। हीगल ने आधुनिक लोगों में परम्परागत सामुदायिक सम्बन्धों की कमी के कारण आधुनिक समाज में नैतिकता के ह्रास पर चिंता व्यक्त की। तथापि अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों से युक्त नागरिक समाज को यदि अकेला छोड़ा जाए तो यह स्वयं को नष्ट कर लेगा। अतः हीगल के विचार में यद्यपि नागरिक समाज में व्यक्ति की आधुनिकता की विलक्षण उपलब्धि विद्यमान है तथापि इसे राज्य के माध्यम से संगठित और संस्थानगत किया जाना चाहिए।

ग्रामस्की ने मार्क्सवादी तर्क को आगे बढ़ाते हुए नागरिक समाज के बारे में हमारा ज्ञानवर्धन किया है। उत्पादन तथा आदान–प्रदान के सम्पर्कों की प्रणाली की अपेक्षा ग्रामस्की के मतानुसार इसकी विशेषता व्यक्ति तथा राज्य के बीच सामाजिक सम्बन्धों में है। विविध संस्थानों, प्रक्रियाओं तथा नागरिक समाज से सम्बन्धित सहवर्ती पौराणिक कथाओं तथा प्रतीकों के प्राधन्य अभिवेगों के माध्यम से राज्य की प्रबलता स्थापित करने के लिए सहमति बनाई जाती है। ग्रामस्की का दावा है कि प्राधान्य नागरिक समाज अथवा अधीनस्थ नागरिक समाज आवश्यक भीषण आर्थिक संकट के समय भी क्रान्तियां न होने के लिए उत्तरदायी है। ग्रामस्की के अनुसार, प्रधानता एक ऐसी रणनीति है जो सरलता से सर्वहारा तथा उपाश्रित लोगों की सम्पत्ति बन जाती है। ग्रामस्की ने अपनी क्रांतिकारी रणनीति के तहत मध्यवर्ग के सभी विरोधियों के गठबंधन की मांग की है जिसका नेतृत्व दिया जा सकेगा जिससे कि राजनैतिक समाज को चुनौती मिलेगी और इसे पुनः व्यवस्थित किया जा सकेगा।

ग्रामस्की के मत का महत्त्वपूर्ण आशय राजनैतिक है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से नागरिक समाज द्वारा उपलब्ध कराए गए अन्तराल पर प्रबल वर्गों ने यथोचित व्यवहार करते हुए नेतृत्व किया परन्तु इससे अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा नागरिक समाज को पुनः उचित रूप देने की पर्याप्त संभावनाएं सुझाई गई हैं। तथापि, हाल ही के वर्षों में पार्था चटर्जी तथा सुदिप्ता कविराज जैसे विद्वानों ने सामान्य तौर पर तीसरी दुनिया के देशों तथा विशेषकर भारत में नागरिक समाज से सम्बन्धित रोचक तर्क दिए हैं। उन्होंने औपनिवेशिक हस्तक्षेप के माध्यम से थोपे गए पश्चिमी विचारों तथा अभिशासन के रूपों की कमियों तथा असंगतताओं की ओर ध्यान दिलाया है। इसके साथ–साथ इनसे काफी लम्बे समय से इन समाजों में राजनैतिक आधुनिकता लाने के प्रयासों के दौरान कई प्रक्रियाएं आरम्भ हो चुकी है। अतः भारतीय स्थिति को समझने के लिए समाज तथा नागरिक समाज के पश्चिमी विचार उपयुक्त नहीं है क्योंकि इन संस्थानों की प्रकृति यूरोपीय देशों से पर्याप्त भिन्न हैं। भारतीय स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए राज्य तथा नागरिक समाज की परिकल्पनाओं के उपयोग से कई विसंगतियां उत्पन्न हुई हैं। वे उन विद्वानों के प्रयासों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं तो राज्य की प्रधान भूमिका की निन्दा करते हुए नागरिक समाज को विशेषाधिकार दे रहे हैं। उनके मतानुसार भारत में राज्य उतना व्यापक नहीं है जितना कि पश्चिमी देशों में। राज्य की गौणता पर तर्क देने के लिए राज्य की पश्चिमी समालोचना मिथ्या है। पार्था ने भारतीय स्थिति को समझने के लिए एक नई परिकल्पना बनाई है– ''राजनैतिक समाज'' जोकि नागरिक समाज से भिन्न है। उन्होंने भारतीय लोकतंत्र में जनवाद के विभिन्न रूपों में उभरने का श्रेय राजनैतिक समाज के विकास को दिया है तथा जिससे उन्होंने राज्य तथा जनता के बीच विशेष सम्बन्धों का उल्लेख किया है। नागरिक समाज की चर्चा में कविराज की

अंतिम टिप्पणी अनुदेशात्मक है जोकि इस प्रकार है– ''यह समस्या की प्रकृति ही है कि नागरिक समाज पर चर्चा से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचाया जा सका है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन पर चर्चा से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन पर चर्चा का कोई लाभ नहीं हुआ है। राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना तथा इनके फलने–फूलने के लिए आवश्यक अवस्थाओं की प्रकृति पर इन चर्चाओं का सामूहिक प्रभाव पड़ा है। संक्षेप में तीसरी दुनिया के देशों में नागरिक समाज के विचार की दुग्राहयता तथा परस्पर प्रभावित के कारण हमें दृष्टिगोचर राजनैतिक संस्थानों के पीछे के सामाजिक क्षेत्र के बारे में सोचना पड़ता है तथा अनिवार्य परन्तु कम विश्लेषित क्षेत्र की व्याख्या करने का प्रयास करना पड़ता है।''

8.3 नए सामाजिक आन्दोलन

भारत में सबसे पहले सामाजिक आन्दोलनों का आरम्भ सर्वोदय के रूप में गांधी जी के प्रयासों में देखा जा सकता है। गांधी जी ने सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता को समझा परन्तु उनका मानना था कि यदि परिवर्तन अहिंसापूर्ण, सफल तथा स्थायी बनाना हो तो इसे नीचे से ऊपर से स्तर तक होना चाहिए। सर्वोदय गांधी जी के निर्माणकारी कार्यक्रम का स्पष्ट रूप है। राधाकृष्ण के अनुसार सर्वोदय का सैद्धान्तिक उदाहरण के रूप में ग्राम स्वराज्य के राज्य तथा श्रेणीरहित समाज की स्थापना करनी होगी, भूदान तथा ग्रामदान जैसे कार्यक्रमों के माध्यम से स्वैच्छिक रूप से संसाधनों के बंटवारे के सिद्धांत को अपनाना होगा। ग्रामीण उद्योगों तथा कृषि औद्योगिक समुदाय विकसित करना तथा औद्योगिक कार्यकलापों में ट्रस्टें बनाने की गांधीवादी परिकल्पना को लागू करना होगा परन्तु इस प्रकार नैतिक दबाव के दृष्टिकोण की सीमाओं का इतिहास साक्षी है। यद्यपि आरम्भ में भूदान के प्रति बहुत आशा थी किन्तु स्वैच्छिक तरीकों से भूमि के पुनः वितरण में भूदान की सम्पूर्ण विफलता ने सभी आशाओं पर पानी फेर दिया।

1970 के दशक के बाद से आधारभूत मुद्दों पर बल देने वाले कई सामाजिक आन्दोलनों ने नागरिक समाज के क्षेत्र को जीवंत बना दिया है। ये पुरानी ट्रेड यूनियनों तथा श्रमिक वर्ग आन्दोलनों की अपेक्षा ''नए'' है जोकि क्रांतिकारी, सिद्धांतयुक्त तथा राज्य का वैकल्पित राजनैथ्तक रूप होने के कारण राजनैतिक थे परन्तु जैसा कि उन्हें जन आन्दोलनों का नाम दिया गया है ये पारिस्थितिकीय अथवा लैंगिक अथवा जातीय विवादों के प्रति व्यापक स्तर पर लोगों की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। इन आन्दोलनों की विशेषता यह है कि ये समवर्गी नहीं हैं तथा उनका जन्म भिन्न–भिन्न रूपों में हुआ। जैसाकि विघ्नराज ने उल्लेख किया है कुछ आन्दोलन धर्मार्थ संस्थानों, धार्मिक संस्थानों, ''लघु सुंदर है'' के समर्थकों इत्यादि जिन्होंने लोगों को ''अच्छे'' कार्य करने की शिक्षा दी तथा गांव को सामजस्यपूर्ण इकाई तथा समुदाय समझा द्वारा अपनाए गए रोमांचकारी तथा सैद्धांतिक दृष्टिकोण का परिणाम हैं। कई मामलों में तो संचार माध्यम के योगदान तथा बुद्धिजीवियों के हस्तक्षेप के कारण स्थानीय स्तर पर की गई पहलों का एक–दूसरे में विलय हुआ जिन्होंने बड़े पैमाने पर आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

जैसाकि विघ्नराज ने आगे उल्लेख किया है कि केवल ''कुछ जन आन्दोलन लम्बे समय तक टिक पाए अन्य आन्दोलन उदगारी ही रहे तथा कुछ समय के बाद समाप्त हो गए..... इसी प्रकार से निचले स्तर पर हुए कुछ प्रयोगों में परिवर्तन के बीज विद्यमान होते हैं जबकि अन्य क्षणिक ही होते हैं।'' उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि परिवर्तनकारी तथा क्षणिक आन्दोलनों में कैसे भेद किया जाए। परिवर्तनकारी आन्दोलन की पहचान कुछ बड़े लक्ष्यों जैस संसाधनों में समानता तथा पहुंच; सामाजिक–राजनैतिक, सांस्कृतिक अधिकारों की समानता, कार्य, कल्याण, राजनीति इत्यादि को प्रभावित करने वाले सभी सामाजिक निर्णयों में वास्तविक भागीदारी, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के बीच अंतर को समाप्त करना तथा इस उदेश्य के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी के उपयोग के रूप में की जा सकती है तथापि इसका अर्थ केवल उदेश्यों का विवरण प्रस्तुत करना नहीं है अपितु सही अर्थों में भागीदारी, स्वयं उत्पादन तथा स्वयं प्रबंधन, स्वायतता, पूर्ण एकता तथा नवीनता लाने की प्रवृत्ति है। दूसरी और क्षणिक आन्दोलन एक कमजोर प्रक्रिया है तथा कई करणों से लम्बे समय तक नहीं चलते। तथापि उन्होंने चेतावनी दी है कि क्षणिक आन्दोलनों (बुलबुलों) का आरम्भ में ही परित्याग नहीं कर दिया जाना चाहिए क्योंकि वे परिवर्तन के लिए आरम्भिक मुद्दे हो सकते हैं तथा अतिरिक्त सुग्राहयता व जागरूकता कार्यक्रमों, सहायताकर्ताओं तथा परिवर्तन एजेंटों के प्रशिक्षण के माध्यम से इन्हें बीजों का रूप दिया जाता सकता है। स्वरोजगार प्राप्त महिला संघ, चिपको आन्दोलन, केरल विज्ञान आन्दोलन तथा नर्मदा बचाओ आन्दोलन समिति बीज के उदाहरण हैं। कई असंख्य आन्दोलन ऐसे हैं जिनमें विकास और लोकतंत्र के लिए संघटित, जागरूक और संगठित होने की डिग्री का अंतर रहता है।

सदैव यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी की गई पहले विकास के समरूप पैटर्न पर कार्य करें। उपलब्ध राजनैतिक कार्यक्षेत्र के अंतर्गत सामाजिक–आर्थिक प्रणाली में हस्तक्षेप होते रहते हैं। छोटे प्रयोगों के मामले में कोई अत्यधिक जागरूक व्यक्ति वार्ता तथा समूह कार्यकलाप आरम्भ करता है उदाहरण के तौर पर यदि भूमिहीन श्रमिकों, निर्धन महिलाओं (युवाओं) का समूह आजीविका के साधन या सामाजिक कार्य के लिए जैसे स्वास्थ्य अथवा पर्यावरण स्वच्छता कार्यक्रम चलता है तो यह प्रक्रिया आगे चलकर बीच का रूप ले सकती है अथवा बुलबुल के ही रूप में रहती है जब कि वह फट नहीं जाता।

अब हम कुछ ऐसे आन्दोलनों की चर्चा करेंगे जिन्होंने लोगों तथा पारिस्थितिकी के लिए प्रमुख चिंता के मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें सर्वप्रथम ''चिपको'' आन्दोलन का नाम आता है। एक स्वतः आन्दोलन के रूप में ''चिपको'' आन्दोलन 1970 के दशक के आरम्भिक वर्षों में आरम्भ हुआ तथा श्री सुन्दरलाल बहुगुणा के योग्य नेतृत्व में यह संगठित हुआ। इसका आरम्भ टिहरी–गढ़वाल क्षेत्र के लोगों द्वारा बाहर के ठेकेदारों द्वारा पेड़ों को काटे जाने के विरोध के रूप में हुआ। हिमालय क्षेत्र में जंगल वहां की अधिकांश जनजातीय जनसंख्या की आजीविका का अपरिहार्य स्रोत है, ''चिपको'' का शाब्दिक अर्थ पेड़ों से ''चिपकना'' है। इस आन्दोलन के अंतर्गत जंगों पर आधारित समुदायों की समस्याओं जैसे – जंगलों की समाप्ति, मृदा अपरदन तथा उसके परिणामस्वरूप भू–स्खलन, स्थानीय जलधाराओं तथा अन्य जल संसाधनों का सूखना व घरेलू उपयोग के लिए ईधन और चारे की कमी–को आवाज दी गई। इस आन्दोलन में टिहरी–बांध के निर्माण के विरूद्ध जंग छोड़ी गई जिसके कारण लगभग 25,000 पर्वतीय निवासी बेघर हो जाएंगे। यद्यपि यह आन्दोलन अपने सभी मुद्दों पर सफल नहीं रहा है तथापि इसकी कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियां रही हैं। 1000 मीटर से अधिक की ऊंचाई पर वृक्ष काटने पर प्रतिबंध तथा कुछ जंगली क्षेत्र को सरकार द्वारा संरक्षित क्षेत्र की घोषणा इस आन्दोलन की कुछ सफलताएं हैं।

अहिंसावादी तरीके से विरोध व्यक्त करने के आन्दोलन के रूप में चिपको गांधीवादी संघर्ष का प्रतिरूप है। चिपको आन्दोलन ने देश के अन्य स्थानों पर हरियाली बचाओ आन्दोलनों को प्रेरित किया, इनमें सबसे प्रमुख आन्दोलन पश्चिमी घाटों पर पेड़ों की कटाई तथा जंगल की भूमि पर प्राकृतिक वृक्षों को काटकर व्यावसायिक पेड़ उगाने के विरोध में अपीको आन्दोलन आरम्भ हुआ। चिपको आन्दोलन का नारा है ''परिस्थिति विज्ञान ही अर्थव्यवस्था है।''

एक अन्य सामाजिक आन्दोलन अन्ना हजारे का रहा है जो दो दशकों से अधिक समय से राज्य में नौकरशाही तंत्र में पारदर्शिता की मांग कर रहा है। उनके आन्दोलन ने महाराष्ट्र में उनके गांव शलेगान सिद्धी को मॉडल गांव बना दिया है। उनके आन्दोलन में जन साधारण की कल्याण योजनाओं में सरकारी पहलू तथा कार्यन्वयन प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त करने के अधिकार पर बल दिया गया है। सरकार पर ''सूचना का अधिकार'' से सम्बन्धित अधिनियम लाने के लिए दबाव दिया जा रहा है। इस कानून से लोगों की सरकारी रिकार्ड तक पहुंच होगी तथा इस प्रकार से सरकारी कामकाज में पारदर्शिता और जिम्मेदारी सुनिश्चित की जा सकेगी। इसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार तथा रिश्वतखोरी की समस्या को रोकने में मदद मिलेगी।

वर्तमान समय का एक प्रमुख आन्दोलन है– नर्मदा बचाओ आन्दोलन समिति। मेधा पाटकर द्वारा चलाए गए इस आन्दोलन में जल संसाधनों पर बढ़ते हुए दबाव के समाधान के रूप में बड़े–बड़े बांध बनाने के मुद्दे से सम्बन्धित जागरूकता लाई गई है। यह आन्दोलन नर्मदा नदी पर लगभग 3000 प्रमुख तथा गौण बांधों के निर्माण के विरोध में है जिससे लगभग 3,50,000 हैक्टर वन भूमि तथा 2,00,000 हैक्टर कृषित भूमि नष्ट हो जाएगी। लगभग 1 मिलियन लोगों के बेघर होने का अनुमान है।

महिलाओं, दलित सशक्तीकरण, भूमि उपयोग तथा पर्यावरण से सम्बन्धित मुद्दों से सम्बन्धित संघर्ष हुए हैं। नारी आन्दोलनों में यद्यपि फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी नारी अधिकारवादी आन्दोलनों के समकक्ष कोई परम्परा नहीं रही है, तथापि वे ऐस बिन्दू पर पहुंच गए हैं जहां वे लोकतंत्र की मान्यताओं तथा टिकाऊ विकास के मार्ग पर ले जाने से सम्बन्धित उन सभी आन्दोलनों में सामान्य कारण की पहचान कर सकते हैं। दलितों के आन्दोलन भी इसी दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

अलग राज्यों तथा स्वायतता की मांग से सम्बन्धित आन्दोलन सामाजिक आन्दोलनों की व्यापक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। चाहे उनका जन्म स्रोत एक ही क्यों न हो, फिर भी विषम विकास तथा उनकी विशिष्ट समस्याओं के प्रति राज्य के प्रत्युत्तर देने की विफलता के कारण ये उपराष्ट्रवादी तथा स्वायतता आन्दोलन अन्य सामाजिक आन्दोलनों से आधारभूत ढंग से विभिन्न होते हैं। जहां अन्य सभी सामाजिक आन्दोलन अन्तर्विष्ट हैं अर्थात सभी के लिए खुले हैं। वहीं ये आन्दोलन वर्ग विशेष के लिए हैं तथा सार्वभौमिक सिद्धांतों की अपेक्षा विशिष्ट उदेश्यों पर आधारित हैं।

8.4 आधारभूत लोकतंत्र के अभिकर्त्ता के रूप में नए सामाजिक आन्दोलन

अर्नस्टा लैकलो तथा चैंटल मौफ ने नए सामाजिक आन्दोलनों के उदय को सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयास किया है। उनका सर्वप्रथम उदेश्य पूंजीवाद तथा समाजवाद, दोनों के लिए वैकल्पिक सामाजिक काल्पनिकता उपलब्ध कराना है। उनका मत है कि इन दोनों प्रणालियों मे प्रधानता तथा अनुचितता के तत्त्व विद्यमान है। ग्रामस्की की ही भांति लैक्लाड तथा मौफ ने विभिन्न सामाजिक समूहों के राजनैतिक गठबंधन की प्रक्रिया के माध्यम से समवर्गता की मांग की है परन्तु ऐसा तभी संभव है जब गठबंधन के बीच किसी विशिष्ट समूह जैसे कि ग्रामस्की की क्रांतिकारी रणनीति के अंतर्गत श्रमिक वर्ग के सम्बन्ध में, के किसी नेतृत्व का प्राधान्य न हो। इस प्रकार से उन्होंने किसी विचारधारा अथवा समूह द्वारा अन्य विचारधाराओं अथवा समूहों पर अपनी श्रेष्ठता लाने की अपेक्षा उनकी उग्र समतावादी विचारधाराओं के अनुरूप सभी को स्वीकार्य आम सहमति बनाने का आह्वान किया है। फॉक्लट के सत्ता विचार द्वारा प्रभावित इनका तर्क है कि सामाजिक शक्तियों को अब राज्य या अर्थव्यवस्था में केन्द्र में स्थित नहीं जाना जा सकता अपितु सामाजिक स्तर पर इसे उपयेाग में भी लाया जाता है तथा इसका विरोध भी किया जाता है। ऐसे तर्क का राजनैतिक आशय राजनैतिक संघर्ष के किसी प्रतिबंधित क्षेत्र का अभाव है। लैकलो तथा मौफ ने एकीकृत परिदृश्य अथवा परियोजना ने विरूद्ध नए सामाजिक आन्दोलनों की विशिष्टताओं के कारण इनकी सराहना की है।

नए सामाजिक आन्दोलनों लोगों की इस विचारधारा के सूचक हैं कि वे उन विकास सम्बन्धी उदाहरणों को स्वीकार नहीं करेंगे जिनमें वे शामिल नहीं करते है अथवा जिनमें उनकी भागीदारी को प्रतिबंधित करते हैं। वे क्रांति के माध्यम से राज्य की शक्तियों पर अपना कब्जा करने के बारे में चिंतित नहीं हैं, फिर भी वे जाने–अनजाने राज्य की प्रधान शक्तियों के समकक्ष शक्ति बना सकते हैं। ये नए सामाजिक आन्दोलन वृहत समष्टि विकास प्रक्रियाओं के तरीकों का मानवीकरण भी करते हैं ताकि इस तथ्य का प्रदर्शन किया जा सके कि आधुनिक विश्व में सभी स्तरों पर समावेशन के तरीकों को बदला जा सकता है। इन आन्दोलनों से यह भी पता चलता है कि लोग बहुपक्षीय तथा एक–साथ उत्पन्न समस्याओं का कैसे समाधान करते हैं।

जन–आन्दोलनों का उदय समाजों तथा संक्रांतिकाल की संस्कृतियों के विशिष्ट विरोधाभावों से होता है। इनका जन्म राज्य की भूमिका से उत्पन्न विरोधाभासों तथा कमियों के कारण व बाहर के देशों द्वारा लगाई गई पूंजी के परिणामस्वरूप श्रम के विभाजन से हो सकता है। नए सामाजिक आन्दोलनों से लोगों में पदानुक्रम एकता की अपेक्षा समस्तर पर एकता आई। राजेन्द्र सिंह के अनुसार, ''परिस्थितिकीय आन्दोलनों में राष्ट्र से बाहर के, बायोफिलिक सार्वभौमिकृत तथा नैतिक आन्दोलन शामिल हैं। उनकी आधारभूत वचनबद्धता तथा मौलिक सिद्धांत उन्हें न केवल जाति, वर्ग, प्रजाति, धर्म तथा राष्ट्रों अपितु प्रजातीय श्रेणियों और जैविक व अजैविक दुनिया के विभाजन की श्रेणियों से ऊपर आसीन कर देते हैं। यह आन्दोलन एक विलक्षण घटनाक्रम है जिससे कई बिन्दुओं पर विभक्त मानव को एकल मुद्दे पर इकट्ठा किया जा सकता है तथा एक मुद्दे पर संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। सभी जीवित प्राणियों की प्रतिरक्षा–जन्मे या अजन्मे।

8.5 स्वैच्छिक कार्य एवं गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका

स्वैच्छिक कार्य की आधुनिक विचारधारा का जन्म प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म में है। परिकल्पनात्मक दृष्टि से इसका अर्थ किसी भी ऐसे कार्य से है जो हम अपनी इच्छा से करते हैं न कि मजबूरीवश। किसी कार्य के स्वैच्छिक होने के लिए महत्त्वपूर्ण है कार्य का उद्देश्यपूर्ण या अर्थपूर्ण होना। स्वैच्छिक कार्य की आवश्यकता तब पड़ती है जब लोगों को यह लगे कि समाज के वर्तमान सामाजिक–राजनैतिक तथा आर्थिक ढांचे के अंतर्गत समाज के कुछ पहलुओं की अनदेखी की जा रही है या यह हो सकता है कि ये संरचनाएं समाज में उत्पन्न होने वाले कुछ मुद्दों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने की स्थिति में नहीं है। ऐसे कार्य को करने के लिए अभिप्रेरणा प्रायः व्यक्ति विशेष के स्वहित से सम्बन्धित नहीं है।

किन्तु रजनी कोठारी का यह मत है कि स्वैच्छिक कार्य भारतीय सभ्यता का सार है। उनका तर्क है कि भारतीय सभ्यता का मूल सांस्कृतिक है न कि राजनैतिक। उन्होंने आगे तर्क दिया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय राज्य सदैव सीमान्त रहे तथा उनका कार्यक्षेत्र सीमित रहा। जाति, धर्म तथा व्यावसायिक हितों पर आधारित स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा समाज का वास्तविक कार्यकलाप चलाया जाता था। उनका यह भी दावा है कि ''यदि कोई यह कहता है कि स्वैच्छिक

कार्य भारत की अटूट विशेषता है तो इसका अर्थ केवल यह है कि कई स्थानो पर कई लोग किसी बाह्य कारक–राजनैतिक, नौकरशाही अर्थात बाजार की शक्तियों द्वारा कहे जाने के बिना बहुपक्षीय कार्यों में संलिप्त हैं। हाल ही के दशकों में जब आधुनिक राज्य अथवा इसके संस्थानों ने या तो भारतीय समाज के स्वैच्छिक लोकाचार में बाधा डालनी आरम्भ कर दी अथवा लोगों के स्वैच्छिक कार्यों में स्वयं को थोपना शुरू कर दिया जिनके कारण राज्य द्वारा चलाए जाने वाले कार्यों तथा स्वेच्छा से आरम्भ किए गए कार्यों के बीच विभाजन की स्थिति उत्पन्न हुई है।'' अतः रजनी कोठारी का मानना है कि स्वैच्छिक कार्यों में आधुनिक समय में रूचि इस प्रकार से है जैसे कि सामाजिक जीवन में सामुदायिक प्रबंधन की देसी भारतीय परम्परा की ओर वापस जाना।

आइए अब हम आज की स्वैच्छिक संस्थाओं पर दृष्टिपात करें जिन्हें गैर–सरकारी संगठनों का पर्यायवाची माना जाता है यद्यपि दोनों के बीच सूक्ष्म अंतर है। गैर–सरकारी संगठन स्वैच्छिक कार्य का अकेला रूप नहीं है अपितु ये स्वैच्छिक कार्य क्षेत्र का एक हिस्सा हैं। गैर–सरकारी होना स्वैच्छिक कार्य के कई पहलुओं में से एक है। ईसाई मिशनरियों द्वारा स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कई अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के कार्यकलापों को कई विद्वानों ने भारत में स्वैच्छिक कार्यों में सर्वप्रथम माना है परन्तु इनका प्रमुख अंतर उन मान्यताओं से है जिनके अनुसार ये कार्य करते हैं। उनकी सेवाएं उस ईसाई मान्यता के अन्तगर्त आती है जिनके अनुसार वे विश्वभर में ईसा का संदेश पहुंचा कर सभी लोगों के लिए निर्वाण सुनिश्चित करना चाहते हैं। समकालीन गैर–सरकारी संगठनों का जन्म 1970 तथा 1980 के दशक में हुआ। यह वह समय था जब राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों के प्रति लोगों में अविश्वास की भावना बढ़ती जा रही थी। राज्य तथा इसकी नीतियों की विफलता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में इनका जन्म हुआ। तब से लेकर आज तक गैर–सरकारी संगठनों की संख्या में बड़े पैमाने पर बढ़ोतर हुई है। यद्यपि केवल 15,000 गैर–सरकारी संगठन पंजीकृत हैं तथापि यह अनुमान है कि उनकी संख्या 50,000 तथा 1,00,000 के बीच हो सकती है। गैर–सरकारी संगठनों को राज्य के विकास कार्यों में योगदान देने में अपरिहार्य भूमिका के रूप में देखा जा रहा है।

सरकारी एजेन्सियों द्वारा अपनी नीतियों के कार्यन्वयन में गैर–सरकारी संगठनों के लिए भी विकल्प देने के प्रति विद्वानों की मिली–जुली प्रतिक्रिया है। कुछ का मानना है कि यह एक सकारात्मक दृष्टिकोण है जबकि अन्य मत से सहमत नहीं है। उनका मानना है कि यह नागरिक समाज में राज्य का बलपूर्ण हस्तक्षेप है तथा ऐसा राज्य द्वारा नव–उदारवादी मुद्दों को बढ़ावा देने के लिए किया जा रहा है। सारा जोसेफ का कहना है कि ''1970 के दशक के अंतिम वर्षों में आपातकाल लागू होने के बाद स्वैच्छिक कार्यों में आई बाढ़ से जिसे ''निचले स्तर की राजनीति'' कहा गया। कुछ समय के लिए यह आशा जागी कि नए रूप की राजनीति का जन्म हो रहा था जिससे भारत में लोकतांत्रिक संस्थानों का नवीनीकरण किया जा सकेगा। यह आशा जताई गई कि लोकप्रिय दबावों तथा लोगों को संगठित और जागरूक करने के लिए काम में जुटी स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्यों के परिणामस्वरूप लोकतंत्र का अधिक भागीदारीपूर्ण मॉडल उभर कर सामने आएगा। यह महसूस किया गया कि इनके हस्तक्षेप से लोगों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं को अभिव्यक्ति मिल पाएगी तथा राज्य को अधिक जनापयोगी योजनाएं तैयार करने में सहायता मिलेगी।'' यद्यपि सरकारी तथा अन्तर्राष्ट्रीय एजेस्सियों ने भी निचले स्तर पर सक्रियतावाद तथा गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका का उल्लेख किया है। जोसेफ का कहना है कि सरकारी रूचि लक्ष्यों की प्राप्ति तथा कार्य में कारगरता लाने के उद्देश्य से उन्हें उप–ठेकेदार के रूप में उपयोग में लाने में थी क्योंकि यह महसूस किया गया है वे नौकरशाही की अपेक्षा अधिक प्रतिज्ञाबद्ध तथा ईमानदार ढंग से कार्य कर सकेंगे और लोग उन्हें स्वीकार्यता देंगे।

विकास के क्षेत्र में गैर–सरकारी संगठनों का महत्त्व कार्य की गुणवत्ता में है न कि मात्रा में। जैसाकि अनिल सी. शाह तथा सुदर्शन अयनगर ने उल्लेख किया है कि कई मामलों में जिन लोगों के लिए केवल गैर–सरकारी संगठनों ने काम किया है। वे बाद में सरकारी प्रणाली के निष्पादन में भी उन्हीं मानकों की मांग करते हैं तथा इसके लिए आन्दोलन भी करते हैं। यद्यपि, सरकार द्वारा किए गए कार्य की मात्रा की दृष्टि से उनका योगदान नगण्य रहा है तथापि उनके कार्य की गुणवत्ता प्रभावशाली है। इस सम्बन्ध में गुजरात में आगा खान ग्रामीण सहायता कार्यक्रम द्वारा किए गए कार्य उल्लेखनीय है। उन्होंने गैर–सरकारी संगठनों के कार्यकलापों की गुणवत्ता की जांच करने के लिए छह परिमाप बताए हैं जो इस प्रकार से हैः

1) लोगों की भागीदारीः

2) तकनीकी उत्कृष्टताः

3) आर्थिक दृष्टि से सस्ताः

4) उपेक्षितों तथा महिलाओं के लिए समानताः

5) संस्थानगत, वित्तीय तथा पर्यावरणीय टिकाऊपन; तथा

6) जवाबदेही।

उनका तर्क है कि गैर–सरकारी संगठनों का स्तर सर्वोपरि रखना उनका दृष्टिकोण व तरीका है ताकि लोगों की भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। ''सौहार्दपूर्ण तथा अनौपचारिक ढंग से र्का करते हुए से सरकारी एजेन्सियों की भांति लोगों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं पर ध्यान ने देते हुए निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विकास कार्य नहीं करते।''

इससे पता चलता है कि विकास कार्य से जुड़ी सरकारी एजेन्सियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है किन्तु वृहत सामाजिक–आर्थिक संरचनात्मक परिवर्तन की अपेक्षा दृष्टिकोण में परिवर्तन पर बल दिए जाने को क्रांतिकारी परिवर्तन के समर्थक इसे अपनी बढ़ती हुई भूमिका को मान्यता दिलाने तथा अब तक सहयोग करते आए राज्य की भूमिका को गौण करने के षड़यंत्र के रूप में देखते हैं।

8.6 सारांश

नागरिक समाज का राजनैतिक प्रक्रियाओं की चर्चाओं का बिन्दु बनना दो मुंही तलवार की भांति है। एक ओर तो जन भागीदारी बढ़ाकर विकास प्रक्रिया के लोकतांत्रीकरण की आशा है तो दूसरी ओर इससे राज्य की वैद्यता को कम किए जाने का खतरा भी मौजूद है। यद्यपि गई गैर–सरकारी संगठनों ने स्वातंत्रता, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय तथा टिकाऊ विकास की मान्यताओं को आगे बढ़ाने में सराहनीय कार्य किया है तथापि यह बात सदैव ध्यान में रखी जानी चाहिए कि वे सरकारी तंत्र की सुविधाएं नहीं जुटा सकते। जैसाकि एक विद्वान ने लिखा है कि ''हजार गैर–सरकारी संगठन भी सरकार की भूमिका नहीं निभा सकते।'' गैर–सरकारी संगठनों की जवाबदेही भी चिंता का एक अन्य विषय है। जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है कि इनमें से अधिकांश विदेशी मुद्रा विनिमय अधिनियम (एफ सी आर ए) के अन्तर्गत पंजीकृत नहीं है परन्तु इनका महत्त्व उनकी भागीदारी से विकास के सम्भव लोकतांत्रिक तरीके जनता के समक्ष प्रस्तुत करने तथा इस प्रकार से लोगों को जागरूक करने में है कि वे सरकार पर दबाव डालकर विकास के तरीकों में सकारात्मक परिवर्तन ला सकें। स्वैच्छिक कार्यों के सम्बन्ध में हमें रजनी कोठारी के आशावादी विचारों की ओर भी ध्यान देना होगा। उनका दावा है कि यद्यपि स्वैच्छिक कार्य में समकालीन रूचि राज्य की विफलता की प्रतिक्रिया के रूप में है। शीघ्र ही सम्भवतः हम स्वैच्छिक कार्यवाद के सकारात्मक तथा उदारवादी पहलुओं को देख पाएंगे। केवल भावी राजनैतिक घटनाक्रम ही उनके दावे को सही या गलत सिद्ध कर सकते हैं।

8.7 अभ्यास

1. क्या आप भारत के विकास की प्रक्रिया में सरकारी तंत्र की तथाकथित नकारात्मक भूमिका के सम्बन्ध में कई आलोचकों के तर्कों से सहमत हैं? अपने मत के पक्ष में उपयुक्त तर्क दें।
2. नागरिक समाज के सम्बन्ध में बदलती हुई विचारधारा की विवेचना कीजिए एवं सार्वभौमिकरण के इस युग में इसे दिए गए समकालीन महत्त्व की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. टिकाऊ विकास की मान्तयओं को बढ़ावा देने तथा सीमान्त समुदायों के सशक्तिकरण में नए सामाजिक आन्दोल की भूमिका का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
4. सरकारी एजेंसियों के विकास सम्बन्धी कार्यों में गैर–सरकारी संगठनों के योगदान तथा वर्तमान सार्वभौमिक युग में स्वैच्छिक क्षेत्र की भावी भूमिका की विवेचना कीजिए।

*****

अध्याय – 9
राजनीतिक सिद्धांत का समाजवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण

अध्याय की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 सामाजिक प्रगति, व्यक्तिवाद तथा पूंजीवाद का सिद्धांत

9.3 समाजवाद : अर्थ तथा आरंभिक रूप

9.4 कार्ल मार्क्स तथा समाजवाद

9.5 मार्क्सवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद की आलोचनाएं

9.6 अभ्यास

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम निम्नलिखित मुद्दों पर विवेचन करेंगेः

समाजवाद की जरूरत किसलिए है? समाजवाद क्या है? समाजवाद किन्हीं सिद्धांतों व विचारों के समूह के साथ–साथ एक राजनीतिक कार्यक्रम है जो 19वीं शताब्दी के आरम्भ में उदित हुआ। यह पूंजीवादी सम्पत्ति के विरूद्ध एक प्रतिरोध के रूप में उभरा। सभी समाजों में सम्पत्ति को पवित्र समझा जाता है। अपवाद है प्रारंभिक समाज, जिन्हें आदि/जनजाति/कबीलीय समाज भी कहा जाता था। पूंजीवादी समाज में सम्पत्ति भले अपनी पवित्रता खो बैठी हो परन्तु इसे नई प्रकार की अनुज्ञप्ति प्रान्त हो चुकी है। अब सम्पत्ति एक अहस्तान्तरीय अधिकार बन चुका है। (अहस्तान्तरणीय रूप में सम्पत्ति के अधिकार में क्या निहितार्थ हैं?

राज्य का एक मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के आश्वासन का प्रयोजन होता है। उदारवादी सिद्धांत में निजी सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति तथा उनके द्वारा सुख–सम्पन्नता प्राप्ति के लिए मुख्य समझा जाता है। जॉन लॉक (जिसे पश्चिमी समाज की उदारवादी धारणा का जनक कहा जाता है) के अनुसार, जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है तथा लोग राज्य बनाने के लिए जो समझौता करते हैं वह राज्य लोगों के इस अधिकार की रक्षा करता है। लॉक के बाद तथा एडम स्मिथ, जेरमी बैन्थम तथा पूंजीवाद के आधुनिक प्रवक्ताओं के अनुसार निजी सम्पत्ति का अधिकार राजनीतिक दृष्टि से पवित्र तथा सामाजिक प्रगति के लिए एक अनिवार्य शर्त बन गया है। हमारे समय में भूमण्डलीय परिप्रेक्ष्य में पूंजीवाद तो इस अधिकार के संरक्षण हेतु और अधिक आक्रामक रूप अपनाए हुआ है।

9.2 सामाजिक प्रगति, व्यक्तिवाद तथा पूंजीवाद का सिद्धांत

सामाजिक प्रति का सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि विवेकयुक्त आत्म–हित जो एक व्यक्ति के साथ जुड़ा होता है समय बीतने के साथ सामाजिक हित में परिवर्तित हो जाता है। भले ही आत्महित व सामाजिक हित के बीच कुछेक अस्थायी बाधाएं आती हैं। इसका अर्थ यह है सामान्य सामाजिक कल्याण व्यक्ति के हितों की महत्तम वृद्धि का फल होता है। ऐल्कजैन्डर पोप ने इस तथ्य को निम्नलिखित अच्छे रूप में बताया हैः

''अतः ईश्वर अर्थात् प्रकृति ने सामान्य आधार बनाकर आत्म–स्नेह तथा सामाजिक स्नेह को एक रूप प्रदान कर दिया।''

हम सब एडम स्मिथ की 'अदृश्य हाथ' की धारणा से परिचित हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की वृद्धि करने वाला ही नहीं है, अपितु एक अनन्त प्राप्तकर्ता तथा प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं का एक अनन्त उपभोक्ता भी है। सम्पत्ति व्यक्ति का मापदण्ड है और एक पूंजीवादी समाज में भले किसी भी दृष्टि से कोई देखें सभी मार्ग 'सम्पत्ति' पर ही जा मिलते हैं तथा सम्पत्ति के कारण ही व्यक्ति अपने सुख–समृद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की जो तस्वीर उभर कर आती है वह एक अहंकेन्द्रित व्यक्ति की होती है जो दूसरों तथा सबसे अलग–थलग होता है और उस स्थान पर केवल स्वयं के लिए जिसे 'बाजार' कहा जाता है।

व्यक्तिवाद का यह उग्र रूप जॉन लॉक में स्पष्ट दिखाई देता है जिसे उदारवाद का जनक–दार्शनिक कहा जाता है। अपने एक कन्सरनिंग टॉलरेन्स में लॉक लिखते हैं, राज्य नागरिक हित को प्रोत्साहित करने हेतु अस्तित्व में है और ''नागरिक हित में मेरा मतलब जीवन, स्वतंत्रता, शरीर की अनुल्लंघनीयता तथा उन बाहरी वस्तुओं का व्यवस्था के पास होना है जिसमें धन, जमीन, घर/आवास, फर्नीचर आदि सम्मिलित हैं।'' अपनी रचना टू ट्रीटाइजिस ऑन गवर्नमेंट में उन्होंने तर्क दिया, ''यद्यपि भूमि सब व्यक्तियों के लिए समान है तथापि प्रत्येक अपने आप में सम्पत्ति रखता है। इस पर सिवाय उसके किसी और का अधिकार नहीं होता। इस कथन से स्पष्ट होता है। पूंजीवादी सम्पत्ति अनन्य व्यक्ति की सम्पत्ति है तथा यह अन्यों को उस सम्पत्ति से अलग रख उस सम्पत्ति को वैधता प्रदान करती है (सामन्ती समय में सम्पत्ति पर अन्य सदसें की हकदारी होती थी) इस प्रकार की धारणा में व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों की बात का कोई तुक नहीं बनता अथवा व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से प्राप्त किसी सामाजिक व्यवस्था की उपलब्धियों में भागीदारी का भी मतलब नहीं बनता। एक जटिल सामाजिक व्यवस्था में सम्पत्ति लोगों के सामान्य प्रयासों का फल होती है। परन्तु उसकी प्राप्ति का स्वरूप सदैव अनन्य वैयक्तिक होता है। सामान्य हित की वैयक्तिक हित के साथ पहचान की जाती है। वैयक्तिक हित प्रत्येक व्यक्ति का अपने लिए होना होता है। राज्य का मुख्य कार्य उन लोगों की सम्पत्ति की पूरी रक्षा करना है जो सम्पत्ति प्राप्त करने में सफल होते हैं।

उत्पादन के सभी साधन (भूमि, कारखाना, कच्चा माल, औजार एवं उपकरण तथा अन्य ऐसी वस्तुएं जो जीवन की आवश्यकताओं तथा अन्य माल बनाने में काम आती है) ऐसे (पूंजीवादी) समाज में निजी स्वामित्व में होते हैं। यह सभी जैसा कि इतिहास बताता है थोड़े एवं कुछ हाथों में सिमट करके रह जाते हैं क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन संचयन की ओर बढ़ता है। समाज के लिए इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम होते हैं। पहला निवेश से सम्बन्धित सभी मामलों – क्या वस्तुएं बनेंगी तथा कितनी मात्रा में बनेंगी को निर्धारित करने का अधिकार उन कुछ लोगों का होता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामी होते हैं बनाई गई सामाजिक रूप से कितनी लाभकारी है अथवा नहीं है। यह सोचने–विचारने का विषय नहीं होता। निवेश लागत निर्धारित करने के पीछे मात्र यह उदेश्य होता है कि क्या बनाई गई वस्तु के लिए प्रभावकारी मांग पैदा की जा सकती है? दूसरे शब्दों में निवेश में निवेश से सम्बन्धित मामलों के लिए निर्णय लेने के पीछे लाभ की प्राप्ति ही एक मात्र सोच हुआ करती है। क्या बसों अथार्त जन यातायात की अपेक्षा कीमती कारें बनाना अधिक आवश्यक है? आदि प्रश्नों का उत्तर वैयक्तिक उद्यमों द्वारा लाभ की दृष्टि से निर्णित किया जाता है। इसी प्रकार बन्दुकें अथवा बम्ब बनाना चिकित्सालय अथवा विद्यालय बनाने से अधिक उपयुक्त है, आदि का निर्माण भी लाभ प्राप्ति की दृष्टि के अनुरूप किया जाता है। सस्ती डबलरोटी जो जनसाधारण की जरूरत होती है उनके उत्पादन की बजाय कुछ लोगों के लिए महंगे आलू के चिप्स बनाए जाते हैं। इस प्रकार के पूंजी निवेश के फलस्वरूप वह वस्तुएं बनाई जाती हैं जिनकी आवश्यकता नहीं होती अथवा उन कुछ लोगों के लिए बनाई जाती हैं जो खरीद सकते हैं उन बहुत से लोगों के लिए नहीं बनाई जाती जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है।

पूंजीवाद संचयन का दूसरा परिणाम यह होता है कि इस प्रकार की उत्पादकीय व्यवस्था में एक वर्ग श्रम करने के सामाजिक तथा कानूनी दायित्वों से मुक्त हो जाता है। यह पूंजीपतियों का वर्ग होता है। यह श्रम प्रक्रिया से बाहर रहते हुए समाज में अन्यों पर उत्पादकीय श्रम का बोझ थौंपता है। अतः समाज में हम एक बड़े अर्थात बहुमत भाग को अपनी मजदूरी पर जिन्दा बना देखते हैं। जो बदले में व्यक्ति की श्रम शक्ति की पुनः उत्पादकीय मूल्य द्वारा तथा श्रम की मांग व आपूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। अतः हम पूंजीवादी समाज को दो भागों में विभाजित देखते हैं। एक वह भाग जिनके पास पूंजी तथा उत्पादन के साधन होते हैं तथा दूसरा वह भाग जिनके खाली हाथ होते हैं और जो उन परिस्थितियों में जो उनके द्वारा नहीं बनाई जाती, उन परिस्थितियों में अपना श्रम बेचने के लिए तत्पर रहते हैं। चारों ओर नजर डालने पर ऐसी व्यवस्था देखी जा सकती है।

ऐसा समाज जो इस प्रकार वर्गीय आधार पर विभाजित होता है। श्रम का सम्मान–आदर नहीं करता। जो मजदूरी करता है उनके पास कुछ नहीं होता और वह अपनी मजदूरी के बलबूते जीवित रहता है। सम्पत्ति तथा स्वामित्व मान–सम्मान का आधार होते हैं। सभी आर्थिक विशेषाधिकार, सामाजिक प्रभुत्व तथा प्रतिष्ठा उनके पास होते हैं जिनके पास उत्पादन के साधन होते हैं अर्थात जो पूंजीपति हैं। यह सभी सामाजिक परिसम्पत्तियां राजनीतिक शक्ति के साधन बन जाते हैं अथवा

इनके माध्यम से राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है। यही कारण है कि पूंजीवादी समाजों में पूंजीपतियों को शासकीय वर्ग कहा जाता है। वह वर्ग जो किसी भी पूंजीवादी समाज में शक्ति के मुख्य लक्षण निर्धारित करते हैं। सारांश में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवादी वर्ग समाज की संरचना निर्धारित करता है और वह समाज, बदले में मूल्यों, अभिरूचियों, कृतियों तथा समस्त सभ्यता को दिशा निर्देश देता है।

अतः आरम्भ में समाजवाद के उदय को पूंजीवादी सम्पत्ति के विरूद्ध एक प्रतिरोध बताया गया था तो भाव मात्र सम्पत्ति से नहीं था अपतु उत्पादन तथा सरकार की समस्त व्यवस्था से था जिसे पूंजीवादी सम्पत्ति प्रदत करती है तथा समाज पर लागू करती है।

9.3 समाजवाद : अर्थ तथा आरंभिक रूप

विद्रोह क्या रूप लेता है? अर्थात समाजवादी क्या है? 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में समाजवादी दृष्टि से जो सामान्य तत्त्व उभर रहे थे उन्हें लैसजैक कुलाउकस्की ने मेन करंट्स ऑफ मार्क्सिजम में इस प्रकार बताया हैः 'यह मत कि धन का अनियंत्रित केन्द्रीयकरण तथा बेलगाम प्रतिस्पर्धा अंततः बढ़ती निर्धनता तथा विपत्तियों को जन्म देंगे तथा ऐसी व्यवस्था को एक नई व्यवस्था में परिवर्तित करना होगा। जहां उत्पादन तथा विनिमय का संगठन दमन तथ गरीबी को समाप्त करेगा और पुनः वितरण इस प्रकार होगा कि संसार के उपहार समानता के आधार पर वितरित होंगे।''

आरंभिक समाजवाद स्पष्ट रूप के सिद्धांत न बना पाया। यह मात्र मूल्यों तथा विश्वासों का समूह के रूप में इस विचार का था कि उत्पादन के निजिी स्वामित्व की व्यवस्था को बदला जाए। परन्तु इस ''किसके द्वारा बदला जाए'' पर सर्वसम्मति नहीं थी। सामान्यतया यह सोचा जाने लगा कि उत्पादकीय सम्पत्ति किसी न किसी रूप में सामान्य स्वामित्व में बदली जाए तथा समाज के सामाजिक संगठन का आधार सामान्य स्वामित्व हो।

समाजवाद अपने आपमें सम्पत्ति का विरोध नहीं करता। उदाहरणतया एक लैट, एक फ्रिज अथवा अपना कार चलाना समाजवाद के सार के विरूद्ध नहीं है। यह सब प्रयोग की जाने वाली अथवा प्रयोग में आने वाली वस्तुएं हैं। जब समाजवाद में सम्पत्ति के निजी स्वामित्व की बात की जाती है तो भाव उस सम्पत्ति से है जो उत्पादन करती है, लाभ देती है अथवा किराए से प्राप्त आय होती है। आरंभिक समाजवादियों ने सम्पत्ति को चोरी कहा। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनों के स्वामी मजदूरों से धोखा करते हैं। यह मजदूर प्रत्यक्ष उत्पादन करते हैं तथा इनको दी जाने वाली मजदूरी से ऊपर जो कुछ भी होता है उसे उत्पादन के साधनों के स्वामी लाभ के रूप में हथिया लेते हैं। मजदूरों को उनसे वंचित रखना जो उनकी बदौलत है। वह उनकी चोरी करने के समान है। चोरी का यह संचयन सम्पत्ति के रूप में हम अपने समाजों में देखते हैं। क्योंकि ऐसी सम्पत्ति चोरी का एक रूप है। इस कारण नैतिक रूप से यह स्वीकारीय नहीं है। अतः इस प्रकार की सम्पत्ति का अंत होना चाहिए तथा निजी सम्पत्ति के रूप में यह सम्पत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में बदली जानी चाहिए।

बाद के समाजवादियों ने सम्पत्ति को चोरी नहीं माना परन्तु उसे अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति तथा संचयन कहा जिस अतिरिक्त मूल्य को मजदूर पैदा करता है। मजदूर द्वारा मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में श्रम प्रक्रिया निहित है। मजदूर द्वारा बनाए गए माल को बाजार में विनिमत किया जाता है। पूंजीवादी प्रक्रिया में ऐसा कुछ उनके आन्तरिक व संगठनात्मक तत्त्वों का अंश है और इस कारण उसे कानून के रूप में वैधपूर्ण बनाया जाता है। अतः इसे फिर चोरी नहीं कहा जा सकता परन्तु यह शोषण का रूप अवश्य धारण कर लेता है तथा सदैव ऐसा शोषण बना रहता है। मानकीय दृष्टिकोण से यह वैधपूर्ण भी नहीं है तथा स्वीकारीय भी नहीं है। अतः बाद के समाजवादी पहले के समाजवादियों की भांति निजी सम्पत्ति को समाप्त करने तथा सामान्य सामाजिक स्वामित्व को लागू करने हेतु सहमत है। यह विचार कि उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व तथा उसके अंत के बाद उत्पादन के साधनों का सामान्य स्वामित्व सभी समाजवादिों को एक करता है तथा जो भी इन विचारों से सहमत होता है उसे समाजवादी कहा जा सकता है। भले ही उनमें कितने ही मतभेद क्यों न हों। समाज के अर्थ में ऐसा सामान्य विचार शम्पीटर (कैपीटलइजम, सोशिलइजम एण्ड डेमोक्रेसी) के शब्दों में इस प्रकार बताया जा सकता है ''समाजवाद समाज के उस प्रकार के गठन का नाम है जहां उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण तथा 'क्या और कैसे उत्पादन किया जाएगा' तथा 'किसे क्या प्राप्त होगा' पर निर्णय निजी–प्रशासित लोगों व कम्पनियों की बजाय सार्वजनिक सत्ता से करेंगे।''

इस प्रकार के व्यापक दायरे के अंतर्गत ऐसे मतभेद की (क) पूंजीवाद को कैसे बदला जाएगा तथा (ख) सामाजिक स्वामित्व का वास्तव में, क्या मतलब होगा समाजवाद के विभिन्न दृष्टिकोण को जन्म देते हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न कि समाजवाद कैसे आएगा अर्थात कौन समाजवाद लाएगा समाजवाद से जुड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। इन प्रश्नों पर दृष्टि डालने से हम समाजवाद की अनेक धारणाएं देखते हैं।

1789 की फ्रांसीसी क्रांति के पश्चात् लोगों द्वारा संसार को देखने से जुड़े दो मुख्य लक्षणों में परिवर्तन आए हैं। फ्रांसीसी क्रांति ने राजनीतिक कार्यक्रम में पहला ज्ञानोदय के सिद्धांतों में समानता (तथा बन्धुत्व) के तत्त्व को स्वतंत्रता के तत्त्व जैसा महत्त्व देना आरंभ कर दिया उसके फलस्वरूप समतावाद जनसाधारण के लिए एक धर्मवाद का रूप धारण कर लिया गया। दूसरा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समस्त पश्चिमी यूरोप में सर्वहारा वर्ग तेजी से उभरने लगा। एक ऐसा वर्ग जो संख्या में बढ़ने लगा परन्तु साथ ही कंगाली में जीवन व्यतीत करने लगा।

आरंभिक समाजवाद एक लोप्रिय आन्दोलन के रूप में अनेक प्रकार के उत्सवीय विचारों में बढ़ने लगा। ऐसे समाजवाद के समर्थकों में रॉबर्ट ओवेन (1771–1858), सेंट साइमन (1760–1825), चार्ल्स फोरियर (1772–1837), प्रौधा (1809–1865) तथा अन्य अनेकों का नाम उल्लेखनीय है। परन्तु केवल कार्ल मार्क्स के साथ हम समाजवाद के सामान्य सिद्धांत को ऐसे सुस्पष्ट रूप में देखते हैं जिसकी तुलना पूंजीवाद के एडम स्मिथ तथा रिकार्डों के प्रवक्ताओं के साथ की जाती है। आरंभिक समाजवादियों के विचारों व उनके समाजवाद लाने के मनसूबों में भिन्नता थी। परन्तु इन सबकी आवाज में समामन्यतया देखी जा सकती थी। यह सब वैयक्तिकता की तुलना में सहकारी गतिविधियों पर बल देते थे। यह सब इस तथ्य पर सहमत थे कि निजि स्वामित्व तथा बाजारू प्रतिस्पर्धा सामान्य हित में मार्ग में एक बुराई है और फिर उत्पादन में वृद्धि के बावजूद भी ऐसी व्यवस्था में कोई सामाजिक प्रगति नहीं होती। सामाजिक प्रगति अर्थात समाज पर आधारित सुख/समृद्धि तभी आ सकती है जब निजी लाभ की प्रवृत्ति का उन्मूलन हो और उनके स्थान पर पुरस्कारों की ऐसी व्यवस्था हो जो दावों के नैतिक पक्षों पर आधारित हो।

रॉबर्ट ओवेन ने 1827 में अपने कोआपरटिव मैगजीन में पहली बार शब्द सोशलिस्ट का प्रयोग किया था। वह अपने बलबूते पर बनी एक स्कॉटिश कॉटन उत्पादक था जिसका विश्वास था कि उद्योग–फैक्टरी निर्धनता तथा अनभिज्ञता से मानव जाति के लिए परिमोचन के रूप में काम कर सकती है। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया कि ऐसा संभव हो सकता है यदि उत्पादन प्रतिस्पर्धा की बजाय सहकारी नियमों पर किया जाए उन्होंने स्वयं सहकारी आधार पर उत्पादन हेतु अनेक अनुभव भी किए थे। राष्ट्रीय स्तर पर तो ऐसे कार्य राज्य ही कर सकता है, उनकी ऐसी धारणा थी। उनका यह भी विश्वास था कि यदि परिस्थितियों को अनुकूल बनाया जाए तो मानव स्वभाव में भी परिवर्तन लाया जा सकता है। परिस्थितियों के नव–निर्माण में शिक्षा की प्रभावकारी भूमिका हो सकती है। उन्होंने सार्वजनिक अधिकारयिों द्वारा बेरोजगारों के लिए काम की प्राप्ति हेतु ''सहयोग के ग्रामों'' की स्थापना की वकालत भी की थी। उन्होंने ''सहयोग'' को ''प्रतिस्पर्धा'' की अपेक्षा बेहतर इसलिए नहीं मान लिया कि उससे अधिक उत्पादन की संभावना बढ़ जाती है। उन्होंने तो सहयोग को लोगों के नैतिक सुधार का साधन भी माना था। ओवेन काम की प्राप्ति के अधिकार का समर्थन करते थे। उन्होंने 1817 में यूरोप के राज्य–अध्यक्षों को अपने आवेदनों में यह प्रार्थना की कि वह अपने–अपने राज्यों में उनके द्वारा प्रस्तावित सुझावों को लागू करें ताकि मानव जाति 'पर्याप्तता' के युग में प्रवेश कर सके। उनके विचारों का ब्रिटेन के मजदूरों पर काफी प्रभाव पड़ा जिन्होंने उनके विचारों के संदर्भ में लौकिक आन्दोलन निर्मित करने आरम्भ कर दिए तथा श्रमिक संघों को बनाने पर बल दिया जो उनके समय में ऐसा करना गैर–कानूनी समझा जाता था।

एक अलग प्रकार का समाजवादी विवरण व्यापारिक परिवार से सम्बन्धित चार्ल्स फोरियर की ओर से आता है जिसे फ्रांसीसी क्रांति ने समाजवाद की ओर प्रेरित किया। काम में फिजूलखर्ची, अकुशलता, नीरसता तथा असमानता आदि ने फोरियर को भयावह कर दिया। उनकी मुख्य रूचि कार्य करने को सुखकर बनाना तथा व्यक्ति के स्वरूप के अनुरूप समायोजित करना था। अतः उन्हें श्रम विभाजन का सिद्धान्त इसलिए स्वीकारीय नहीं था क्योंकि यह किसी काम को अनेक प्रकार के छोटे–छोटे आवृतीय भागों में बांट देता था। रॉबर्ट ओवेन की सोच के विपरीत फोरियर को बड़े–बड़े उद्योगों की प्रभावी प्रवृत्तियों में विश्वा नहीं था। उनका मत था कि ग्रामीण क्षेत्रों में प्रायः काम हो तथा शहरी क्षेत्रों में छोटे–छोटे दुकानदार

काम करें क्योंकि समाज में ही पारिवारिक जीवन व्यतीत होता है और वहीं लोग एक–दूसरे को जान भी सकते हैं। काम वहीं पर ही विविध तथा आनन्द–योग्य होता है जहां प्रतिस्पर्धा न हो तथा जहां छोटे–छोटे प्रकार के सहकारी उत्पादन संगठित होकर काम कर सकें। वस्तुओं को कलात्मक रूप से बनाया जाए और जो जितनी देखने में अच्छी लगे उतनी देर तक रहने वाली भी होनी चाहिए। अतः फोरियर ने बड़े पैमाने के उद्योगों का विरोध किया क्योंकि उससे, उनके अनुसार, वैयक्तिकता का डर रहता है तथा काम करने में आनन्द की अनुभूति नहीं होती। फोरियर उस पतन की ओर बढ़ने वाले शिल्पी उत्पादकों का समर्थक था जो स्वयं काम तलाशते थे तथा स्वयं कार्य करते थे। यह प्रकृति बड़े उद्योगों में काम करने की प्रक्रिया से अलग थी जहां काम का खोजन तथा काम करना दोनों एक–दूसरे से अलग होते हैं।

फोरियर से भिन्न सेंट साइमन का अलग व्यक्तित्व था। सेंट साइमन विज्ञान, उद्योग तथा बड़े पैमाने के प्रशासन के समर्थक थे। इस दृष्टि से वे अपने स्वरूप में रूसोवादी थे। उनका मत न कि काम करने वाला एक सामान्य व्यक्ति अच्छा, ईमानदार तथा सदाचारी होता है। वह कुलीनों को भ्रष्ट तथा विद्वानों को शाही शायद इसलिए कहा करते थे क्योंकि उनका स्वयं का सम्बन्ध कुलीन परिवारों के किन्हीं निम्नतर शाखा से था। वह लोगों के हितों का समर्थन करने वाले व्यक्ति थे। वे अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम में लड़े थे तथा फ्रांसीसी क्रांति के पक्के समर्थक थे। ओवेन की भांति वे विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा उद्योग का महान प्रवक्ता थे। उन्होंने 19वीं शताब्दी के विषय में भविष्यवाणी की थी कि यह शताब्दी मानव जाति के लिए एकता लाएगी तथा पुरुष–स्त्री को सुख–समृद्धि प्रदान करेगी। विद्वानों को घमण्डी घोषित करने के बावजूद साइमन ने माना कि सामाजिक पुनः निर्माण हेतु प्रकाण्ड विद्वानों की सलाह लेनी होगी। यह विद्वानों का वर्ग होगा। यह गरीबों (जो समाज का सबसे बड़ा भाग है) के नैतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक सुधारों के उदेश्य से सामाजिक संस्थाओं का पुनःरूपांकन करने का काम करेंगे। इन सभी कामों में राज्य की एक केन्द्रीय भूमिका होगी। राज्य को सभी के लिए काम की तलाश करनी पड़ेगी। क्योंकि सभी काम करने के योग्य हैं तथा रोजगार चाहते हैं। उन्हें समाजवादी बनाने तथा उनका समाजवादी बन जाने में विश्वास यह था कि समाज में केवल एक वर्ग अर्थात मजदूरों के वर्ग के लिए ही स्थान होता है। मजदूरी एक व्यक्ति द्वारा समाज में समाज के लिए किए गए काम की क्षमता के अनुरूप होनी चाहिए। जो काम नहीं करते वह बाधक होते हैं तथा उनकी छंटनी होनी चाहिए। राज्य द्वारा शिक्षा तथा प्रचार पर नियंत्रण के माध्यम से समाज में सुस्वरा लाई जानी चाहिए।

आरंभिक समाजवादियों में प्रौधां का नाम लिया जाता है। वे ऐसा व्यक्ति थे जिन्होंने सम्पत्ति को स्पष्टतः चोरी घोषित किया था तथा मार्क्स के साथ सम्पत्ति व निर्धनता के स्वरूप पर विवादात्मक तर्क–वितर्क किया। उन्होंने एक किताब लिखी थी जिसका नाम था फिलास्फी ऑफ पावर्टी जिसके उत्तर में मार्क्स में पावर्टी ऑफ फिलास्फी लिखी थी। ऐसा करके मार्क्स ने प्रौधं की दार्शनिक कमजोरियों का ब्यौरा दिया था। प्रौंधां का एक मुख्य चिन्तन जनसाधारण की स्वतंत्रता को महत्त्व देने से सम्बन्धित था। वे सोचा करते थे कि लोगों की स्वतंत्रता प्राप्ति के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा असमानता होती है। अतः हम कह सकते हैं प्रौधां के लिए समानता स्वतंत्रता की एक पूर्व–शर्त है और इस दृष्टि से वे लगभग वहीं बात कर रहे हैं जो आधुनिक आमूल विचार रखने वाले विचारक करते हैं। प्रौधां का विश्वास था कि एक समानतावादी लोकाचार एक वर्गविहीन समाज में ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु वे वर्ग–विहीन समाज के लिए वर्ग–संघर्ष के विचार को सही नहीं मानते थे। मजदूरों द्वारा ऐच्छिक सहमति से एक वर्गविहीन समाज की स्थापना हो सकती है। प्रौधां कुछ इस प्रकार सोचा करते थे। वे राष्ट्रीय स्तर पर विकेन्द्रकृत श्रमिक सहकारी व्यवस्था की वकालत किया करते थे तथा यह मानते थे कि ऐसी सहकारी समितियां वस्तुओं तथा सेवाओं का परस्पर आदान–प्रदान करेंगी। इन समितियां के शिखर पर बनी संविधान सभाएं राज्य के स्वरूप को परिभाषित करेंगी। इस प्रकार वर्तमान के पूंजीवादी दमनकारी राज्य का स्वयं ही अंत हो जाएगा।

उपर्युक्त चारों प्रवक्ताओं के विचारों तथा अन्य छोटे–छोटे आरंभिक समाजवादी विचारकों के विचारों से स्पष्ट होता है कि आरंभिक समाजवाद कोई सैद्धान्तिक रूप न होकर पंजीवाद के विरूद्ध उत्सववादी विचारों का मात्र एक समूह था। इनमें से अनेक किसी न किसी रूप में आज भी देखे जा सकते हैं। मार्क्स इन आरंभिक समाजवादियों का आलोचक भी था तथा प्रशंसक भी। उन्होंने उनकी आलोचना करते हुए उन्हें ''स्वपनवादी'' स्वरूप का समाजवादी घोषित किया। मार्क्स

ने उनमें क्या 'स्वपन' स्वरूप देखा? प्रथम, इनमें क्रांतिकारी कृति नहीं है। पूंजीवादी समाज में कौन सी शक्तियां इनमें बदलाव लाएगी तथा इनसे किस प्रकार संघर्ष करेंगी? दूसरा, इन स्वप्नवादी समाजवादियां के विचार अस्पष्ट तथा विसरित हैं। यह स्वपनवादी–समाजवादी सर्वहारा वर्ग द्वारा वर्ग–संघर्ष के प्रति आशंकित थे। यही कारण है कि इन समाजवादियों ने 'ऐच्छिक सहमति', 'दिलों के परिवर्तन', 'प्रचार', 'वैयक्तिक क्रियाओं', छोटे–छोटै परीक्षणों आदि द्वारा समाजवाद लाने की बात की थी। वे कहा करते थे कि श्रमिक वर्ग समाज में सबसे अधिक पीड़ित वर्ग है। परन्तु उनके लिए समस्त समाज को शान्तिपूर्वक साधनों से पूंजीवाद समाज को बदलने की जरूरत को समझना होगा। मार्क्स का मत था कि समाजवाद को ऐसे साधनों के माध्यम से लाना असंभव सा है। परन्तु मार्क्स इन स्वपनवादी समाजवादियों के योगदान की प्रशंसा भी करते थे। उनके अनुसार इनका मुख्य योगदान समाज के पुनः निर्माण जैसे लक्ष्यों की चर्चा करके इन स्वपनवादी समाजवादियों ने समाजवाद के पक्ष में एक वातावरण बना दिया था। कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो में मार्क्स तथा ऐंग्लिस ने लिखा कि इन स्वपनवादी समाजवादियों के विचारों ने 'सर्वहारा वर्ग के लिए मूल्यवान सामग्री प्रदान की'। अतः मार्क्स ने इनके विचारों की आलोचना तो की परन्तु उनको सराहा भी। ऐसी प्रवृत्ति बाद के मार्क्सवादियां में नहीं दिखती।

9.4 कार्ल मार्क्स तथा समाजवाद

समाजवाद के संघर्ष के इतिहास में मार्क्स का योगदान यह है कि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने समाजवाद को एक सिद्धांत का रूप दिया था। उनके समाजवाद का सिद्धांत उसी प्रकार का सिद्धांत था जिस प्रकार रिकार्डों तथा एडम स्मिथ का पूंजीवाद का सिद्धांत था अर्थात मुकाबले का सिद्धांत। मार्क्स का समाजवाद का सिद्धांत किसी पुरानी शैली में प्रस्तुत प्रकार का सिद्धांत नहीं था अपितु एक ऐसा सिद्धांत जैसा कि दावा किया जाता है जो सिद्धांत व व्यवहार को एक रूपता प्रदान करता है अर्थात सिद्धांत व्यवहार का मार्गदर्शन करेगा और व्यवहार सिद्धांत की कमजोरियों में सुधार करेगा। सारांश यह है कि मार्क्स ने क्रांतिकारी गतिविधि के लिए एक सिद्धांत बनाने का प्रयास किया और इस हेतु ऐसे वर्ग की पहचान की जो पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद लाने का क्रांतिकारी कार्य सम्पन्न करेगा।

क्यों तथा कैसे मानव समाजों में परिवर्तन आते हैं? तथा मानव समाज में आने वाले भविष्य में कौन से परिवर्तन होंगे? ऐसे प्रश्नों का उत्तर मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भोतिकवाद में स्पष्ट मिलता है। इस संदर्भ में मार्क्स ने बताया कि ऐतिहासिक परिवर्तन संयोगवश नहीं होते और न ही यह मात्र इच्छा का फल होते हैं। यह परिवर्तन तो द्वन्द्वात्मक कानूनों द्वारा संचालित होते हैं। विरोधाभास द्वन्द्ववाद का सार होता है। यह विरोधाभास तर्कसंगत नहीं होते जैसे कि तर्कों में असंगतियां होती हैं परन्तु वास्तविकता का अपना एक आन्तरिक तत्त्व होता है। सामाजिक वास्तविकता इस आन्तरिक विरोधाभास द्वारा अधिकांशतः समझी जा सकती है। दूसरे शब्दों में यह परस्पर वास्तविकता की विपरीताएं वास्तव में संघर्ष को अनिवार्य बना देती हैं। दूसरो शब्दों में समाज में परिवर्तन इस कारण होता है कि समाज में आन्तरिक विरोध विकसितीय चरणों की ओर बढ़ते हैं। जैसे सामंतवाद में उसी प्रकार पूंजीवाद में आन्तरिक विरोधाभास किसी अगले परिवर्तन की ओर बढ़ेंगे। कैसे? (मार्क्स से सम्बन्धित इन विचारां का अध्ययन 'मार्क्सवाद' की पिछली इकाई में किया गया है।)

प्रत्येक उत्पादन का तरीका (उत्पादकीय शक्तियों तथा उत्पादकीय सम्बन्धां का जोड़) दो परस्पर विरोधी वर्गों को जन्म देता है। एक वर्ग शासकीय अर्थात शोषण करने वाला वर्ग होता है और दूसरा पीड़ित तथा शोषित वर्ग होता है। दोनों वर्गों के बीच निरन्तर तनाव तथा विरोध रहता है ताकि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग से अधिक प्राप्त किया जा सके। यह वर्ग–संघर्ष कहलाता है। मार्क्स तथा ऐंग्लस ने कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो के आरंभ के शब्दों में लिखा, ''अब तक का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।'' वे आगे लिखते हैं ''हमारा युग, पूंजीपतियों के युग का यह विशेष लक्षण है कि इसने वर्ग तनावों का सरलीकरण कर दिया है। समाज समस्त रूप में अधिक से अधिक दो परस्पर विरोधी गुटों में, दो महान गुटों से विभाजित होता जा रहा है; पूंजीपति तथा सर्वहारा।'' अतः समाजवादी सिद्धांत का एक छोर वर्ग–संघर्ष है।

इस परिप्रेक्ष्य में मार्क्स कैपिटल (खण्ड–1) में पूंजीवादी उत्पादकीय विधि के गहन अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विरोधाभासों के तीव्र व बढ़ते रहने से पूंजीपतियों व सर्वहारा में तनाव भी तीव्र तथा बढ़ते रहेंगे। इससे सर्वहारा में क्रांतिकारी चेतना जागृत होगी जो उन्हें यह शिक्षा देगी कि पूंजीपतियों के अल्पमत से शक्ति प्राप्त होने के बाद ही ऐसी परिस्थितियों का निर्माण संभव होगा जिनके फलस्वरूप सर्वहारा का शोषण समाप्त हो जाएगा तथा समाज का उद्धार हो पाएगा।

यह सब कुछ स्पष्ट तथा तर्कसंगत दिखाई पड़ता है। परन्तु यह श्रम है जो उत्तर की अपेक्षा करता है। विरोधाभास इतने तीव्र क्यों होगे कि सर्वहारा को विवश होकर पूंजीवाद को उखाड़ फैंकना होगा तथा उनके स्थान पर नई व्यवस्था बनाई पड़ेगी। मार्क्स के पास इसका उत्तर है जिस उत्तर को मार्क्स वैज्ञानिक उत्तर कहता है। (भले उस उत्तर का सार देना सरल नहीं है परन्तु ऐसा प्रयास अवश्य किया जा सकता है)।

उस उत्तर के लिए हमें मार्क्स के विश्लेषण के दूसरे छोर की ओर जाना होगा। इस विश्लेषण का सम्बन्ध वर्ग संघर्ष के भविष्य से है अर्थात पूंजी के संचयन की प्रक्रिया तथा शोषण की मात्रा कैसे वर्ग संघर्ष को कैसी दिशा देती है। पूंजीवाद संचयन तथा शोषण की मात्रा दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। पहले, मजदूर से अतिरिक्त मूल्य हथिया लिया जाता है। मजदूर को मात्र मजदूरी दी जाती है। मजदूरी वह जो मजदूर को जीवित रहने के लिए जरूरी है। दूसरे शब्दों में जैसे बाजार में अन्य वस्तुएं खरीदी जाती हैं। वैसे मजदूर की श्रम शक्ति भी खरीदी जाती है। यह लगभग स्थापित सत्य है कि एक मजदूर चार–पांच घंटों में उतनी मजदूरी पैदा कर लेता है जो उसे मजदूरी के रूप में प्राप्त होती है। परन्तु यह मजदूर तो आठ–दस घंटे काम करता है। अतिरिक्त घंटे काम करके एक मजदूर जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है वह अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति द्वारा हड़प लिया जाता है। मार्क्स इसे शोषण कहता है–पूंजीवादी उत्पादकीय तरीके में निहित व्यवस्था जो पूंजीवादी संरचना से सम्बन्धित तथा अंतर्निहित भाग बन जाती है। अतः इस इस प्रकार की व्यवस्था पूंजीवाद के लिए वैधानिक तथा अनिवार्य होती है। पूंजीवाद में यह प्रक्रिया उत्पादन के तकनीकि साधनों में सुधार के बाद चलती रहती है। समय के बीतने के साथ मशीनों की कीमतों तथा अन्य निश्चित पूंजीवाद, जिसे स्थिर पूंजीवाद कहा जा सकता है। श्रम शक्ति के किराए पर लेने की कीमत (जिसे अस्थिर, चंचल, परिवर्तनीय पूंजीवाद कहा जा सकता है) की अपेक्षा अधिक महंगी होती जाती है। दूसरे शब्दों में स्थिर पूंजीवाद की परिवर्तनीय पूंजी की अपेक्षा महत्त्व में वृद्धि होती जाती है। पूंजीवादी उत्पादकीय तरीका जैसे कैसे विकसित होता जाता है, वैसे–वैसे स्थिर पूंजीवाद के महत्त्व में भी अपेक्षाकृत वृद्धि होती रहती है। मार्क्स कहते हैं कि इससे पूंजी का संचयन होता रहता है। दूसरे शब्दों में पूंजी का स्वामित्व थोड़े और अधिक थोड़े हाथों में सिमट कर रह जाता है। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। मार्क्स कहते हैं कि इससे फलस्वरूप लाभ की दर में गिरावट आ जाती है। इस क्षतिपूर्ति को पूरा करने के लिए पूंजीपति शोषण को और अधिक तीव्र कर देता है। अर्थात पूंजीपति शोषण बढ़ाता है जिसका मजदूर प्रतिरोध करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूंजीपतियों की अपेक्षा मजदूरों की दरिद्रता बढ़ जाती है। मार्क्स कहते हैं कि वर्ग संघर्ष की तीव्रता बढ़ती है जो अततः सर्वहारा वर्ग द्वारा पूंजीपतियों को उखाड़ फैंकने में दिखाई देगी और मजदूरों द्वारा सत्ता प्राप्त करने में नजर आएगी। मार्क्स तथा ऐंग्लस कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो में लिखते हैं ''पूंजीपति फिर क्या पैदा करते हैं वे अपने कब्र खोदने वाले पैदा करते हैं।'' सर्वहारा वर्ग के शासन का पहला चरण सर्वहारा के अधिनायकवाद की स्थापना है जो बाद में पहले समाजवाद की स्थापना करता है और उनके बाद साम्यवाद की। साम्यवाद एक ऐसा चरण होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करेगा तथा जरूरत के अनुसार प्राप्त करेगा। यह अपने लिए चयन करने की दुनिया होगी।

9.5 मार्क्सवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद की आलोचनाएं

इस इकाई के अंत में 19वीं शताब्दी के अंत में मार्क्सवाद के विरूद्ध द्वि–चुनौतियों का दृष्टि डालना आवश्यक है। 20वीं शताब्दी में इसने विकासवादी अथवा लोकतांत्रिक समाजवाद का रूप धारण कर लिया। समाजवाद से जुड़े अन्य पहलुओं, जैसे श्रेणी समाजवाद तथा श्रमिक संघवाद आदि का अध्ययन केवल अकादमी रूप का बन कर रह गया है। जब मार्क्स द्वारा बताई गई मजदूरों की क्रांति न हुई तो एक सिद्धांत अथवा सिद्धांतों के समूह के रूप में मार्क्सवाद के विरूद्ध सशक्त शंकाएं उभरने लगी। एक विद्वान जिन्होंने क्रमबद्ध ढंग से ऐसे विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया वह जर्मन मार्क्सवादी एडआर्ड बर्नस्टीन थे। अपनी पुस्तक ईवल्युशनरी सोशलिजम में उन्होंने समाजवादी समाज की ओर एक बिल्कुल नया मार्ग ही नहीं बताया। अपितु नई रणनीति भी बनाई। इन संदर्भ में दूसरी घटना इस रूप में नहीं पनपी कि समाजवादी क्रांति नहीं हुई जैसा कि बर्नस्टीन से जुड़ी युक्ति थी। अपितु तथ्य यह था कि कुछेक ब्रिटिश समाजवादियों में मार्क्सवाद को लेकर आंतर सन्देह थे। ऐसे ब्रिटिश समाजवादियों की धारणा थी कि समाजवाद के उद्देश्य, पद्धतियां तथा रणनीतियां सत्तावाद तथा निरंकुश राजनीति को बढ़ावा दे सकती हैं। उन्होंने विशेषतः मार्क्सवाद के उद्देश्यों/तरीकों जैसे सर्वहारा का अधिनायकवाद, वर्ग–संघर्ष, पूंजीवाद का हिंसक तरीकों से उखाड़ फैंकने के विरूद्ध अपनी आपत्ति आदि व्यक्त की।

समाजवाद की प्राप्ति हेतु उन्होंने एक अलग विकल्प को एक फैबियन सोसाइटी की 1880 के दशक में स्थापना के रूप में प्रस्तुत किया। इसके समाजवाद को 'फैबियन समाजवाद' कहा जाता है। इसके प्रमुख सदस्यों में सिडनी तथा बीटरिस वैब, जी.डी. एच. कोल, बर्नार्ड शॉ, लास्की, टॉनी आदि सम्मिलित थे। यह स्मरणीय रहे कि भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं और विशेषतः पंडित जवाहर लाल नेहरू आदि स्वतंत्रता संग्राम के दौरान इन फैबियनवादियों से काफी प्रभावित हुए थे तथा स्वतंत्रता के पश्चात् 1950 के दशक के मध्य में ''समाजवादी रूप का समाजवाद'' का भारतीय विचार इन्हीं समाजवादियों की प्रेरणास्वरूप था।

बर्नस्टीन ने दावा किया कि मजदूरों की मजदूरी कम नही हो रही, अपितु अपेक्षाकृत बढ़ रही है। ऐसा इसलिए कि लाभ में कमी नहीं हो रही जैसा कि मार्क्स ने कहा था, होगी। परिणामस्वरूप, मजदूरों की संभावित दरिद्रता भी नहीं बढ़ रही और इस कारण मजदूरों द्वारा क्रांति नहीं आ पाएगी। बर्नस्टीन कहता है कि स्थिति मार्क्स द्वारा बताई गई स्थिति से भिन्न है। मजदूरों को अधिकाधिक वेतन मिल रहा है और वे पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकृत हो रहे हैं। अतः बर्नस्टीन ने कहा कि जरूरत पूंजीवादी व्यवस्था में रहकर काम करने की है तथा उनके संस्थागत दायरे में संसदों, चुनावों, मुक्त राजनीति, दल व्यवस्था, आदि को स्वीकार करते हुए मजदूरों की स्थिति को सुधारने की आवश्यकता है। उन्होंने बताया कि मजदूर बहुमत में हैं तथा अपने स्वस्थ संगठनों के माध्यम से वे संसद में अपने बहुमत को संभव कर सकते हैं और समाजवादी आदर्शों की ओर बढ़ सकते हैं। अतः बर्नस्टीन ने यह तर्क दिया कि इन बदली अनुकूल परिस्थितियों में क्रांति की जरूरत नहीं है। व्यवस्थित समाजवादी चिन्तन में इसे 'संशोधनवाद' तथा 'सुधारवाद' कहा जाता है और उन लोगों के लिए यह निन्दात्मक विवरण दिया जाता है जो क्रांति के मार्ग को छोड़ देते हैं।

बर्नस्टीन का विकासवादी समाजवाद तथा ब्रिटिश समाजवादियों का फैबियन समाजवाद अलग–अलग मार्गों से मार्क्सवाद के विरूद्ध समीक्षाएं प्रस्तुत करते हुए समान निष्कर्ष पर पहुंचने हैं जिसे 'लोकतांत्रिक समाजवाद' का मुख्य सिद्धांत कहा जा सकता है। लोकतांत्रिक समाजवाद के मुख्य सिद्धांतों में इनका उल्लेख किया जाता है। पहला, समाजवाद जैसा कि मार्क्स ने सोचा था अनिवार्य अथवा एक ऐतिहासिक आवश्यकता नहीं है। अपितु समाज के हित के लिए एक नैतिक जरूरत हैः मानवता अपनी शक्ति को आमूल समतावादी लोकाचार के दायरे में प्राप्त कर सकती है। इसके लिए लोगों को समाजवाद के लिए अपनी ओर करना पड़ेगा तथा लोगों में राजनीतिक शिक्षण के फलस्वरूप संसदीय बहुमत प्राप्त करना होगा। दूसरा, समाजवाद की ओर बढ़ने के लिए मात्र मजदूर वर्ग पर्याप्त नहीं होता, अपितु समाजवाद के लिए तो सब लोगों को भूमिका निभानी पड़ेगी; संसार के लिए मजदूर वर्ग की भूमिका निःसन्देह सामरिक सी होगी। परन्तु मध्य वर्गों में भी समाजवादी विचार लाने हेतु उनसे भी जनमत निर्णय की भूमिका की अपेक्षा की जा सकती है। तीसरा, समाजवाद की ओर मार्ग हिंसक व तोड़–फोड़ जैसा नहीं होगा जैसा कि मार्क्स ने सोचा था परन्तु यह मार्ग क्रमिक स्वरूप का होगा जिसमें वैधानिक प्रयास तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था का संगठन अपनी–अपनी भूमिकाएं निभाएंगे। राज्य संचालन में लोगों की प्रभावी भागीदारी के अवसरों की समानता, प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग, समानता तथा मानवीय व्यक्तित्व का विकास तथा उसे अन्य अनेक मानव समाजवाद लाने में प्रयासरत रहेंगे। चौथा, राज्य सामरिक महत्त्व की संस्था रहेगी तथा राष्ट्रीयकरण की अनेक विधियों द्वारा राज्य उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व का समाजीकरण करेगा। दूसरे शब्दों में उद्योग तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं जैसे स्वास्थ्य देख–रेख, शिक्षा, बिजली, रेलवे आदि मामलों में राज्य तथा सहकारी स्वामित्व व्यवस्थाओं की भूमिका बढ़ाई जाए। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं तथा सेवाओं पर समान हकदारी होगी। इस प्रकार उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की नियोजित अर्थव्यवस्था और साथ में लोकतंत्र के प्रति आस्था एवं स्वतंत्रता मानतवा के उद्धार की ओर बढ़ने वाले मार्ग होंगे।

समाजवाद सोवियत साम्यवाद की भांति कोई सरल एकात्मक सिद्धांत नहीं है। यह परिवर्तन पर परिवर्तन का तथा विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों की बहुलता का प्रतिनिधित्व है जो आपस में कुछेक मूल मान्यताओं तथा आस्थाओं पर सहमत है। एक मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हित में अपना योगदान देने में दूसरे के मुकाबले में समान योग्यता रखता है तथा यह तभी हो सकता है जब सब व्यक्ति सामान्य कल्याण के लिए एकजुट होकर संयुक्त रूप से काम करें। समाजवाद एक विशेष प्रकार का लोकतंत्र है जिसमें नागरिक व राजनीतिक अधिकारों से जुड़ा स्वतंत्रता का विचार आर्थिक कल्याणकारिता तथा सामाजिक स्तर से जुड़े समान दावों के साथ मिल जाता है। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब लोग

पूंजीवाद के अंतर्गत के स्वार्थ व प्रतिस्पर्धा से मुक्त हो जाते हैं। जब तक पूंजीवाद उत्पादन की कुशलता तथा बाजार के संतुलन के पक्ष में शोषण तथा मानवीय प्रतिष्ठा का निरादर करता रहेगा, समाजवाद के लिए ललक रहेगी। तब तक पूंजीवादी सम्पत्ति के विरूद्ध विद्रोह समाप्त नहीं होंगे।

9.6 अभ्यास

1.समझाइए कि समाजवाद क्या है?

2.व्यक्तिवाद तथा पूंजीवाद के संदर्भ में सामाजिक प्रगति के सिद्धांत पर एक निबन्ध लिखिए।

3.समाजवाद के किन्हीं आरंभिक दो प्रवृत्तित की विवेचना कीजिए।

4.कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

5.मार्क्सवाद की आलोचनाओं की समीक्षा कीजिए।

6.लोकतांत्रिक समाजवाद की मुख्य विशेषताएं बताइए।

*****

अध्याय – 10
क्या लोकतंत्र आर्थिक विकास के साथ सुसंगत है?

लोकतंत्र सरकार का एक रूप है; आर्थिक विकास एक आर्थिक प्रक्रिया को दर्शाता है। इस परिचर्चा में यह जानने का प्रयास किया जाएगा कि क्या लोकतंत्र का अभिग्रहण कुशल आर्थिक विकास के लिए सहायक है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में यदि हम आर्थिक विकास को बढ़ाना चाहते हैं तो क्या लोकतंत्र को अपनाना उपयुक्त होगा?

आम बोल–चाल की भाषा में 'लोकतंत्र' शब्द उदार लोकतंत्र को लक्षित करने के लिए प्रयोग किया जाता है जिसका तात्पर्य निश्चित संस्थाओं तथा कार्य–प्रणालियों से है।यह एक ऐसी पद्धति है जहां आमजन अपनी सरकार का चुनाव करते हैं। राजनीतिक नेताओं से अपेक्षा की जाती है कि लोगों का विश्वास जीतने के लिए वे नियमित अंतराल (दो से छः वर्षों के अंतराल) पर चुनाव लड़ें। चुनाव जीतने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों में खुली प्रतियोगिता होती है जिसके लिए वे वैकल्पिक कार्रवाई के कार्यक्रम लागू करते हैं। चुनाव अक्सर बहुसंख्यक मतों पर निर्भर करते हैं मगर अल्पसंख्यक मतों का भी बराबर ध्यान रखा जाता है। प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव चुनाव लड़ने तथा मतदान का अधिकार है, और वे अभिमत तथा विचारों की स्वंतत्रता; धार्मिक स्वतंत्रता; आंदोलन की स्वतंत्रता; संगठन बनाने तथा एकत्रित होने की स्वतंत्रता; व्यापार तथा व्यवसाय की स्वतंत्रता; सम्पत्ति अर्जित तथा बेचने की स्वतंत्रता; तथा समान कानूनी संरक्षण आदि कई नागरिक अधिकारों का लाभ लेते हैं।

आर्थिक विकास का अध्ययन अर्थशास्त्र की परिधि में आता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास एक निश्चित समय में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि को दर्शाता है। उदाहरण के तौर पर इस वर्ष की प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय विगत वर्ष की प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय से अधिक होनी चाहिए। एक निश्चित समय में प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए उस समयावधि में पूरे राष्ट्र में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य का आकलन किया जाता है और उसे कुल जनसंख्या से विभाजित किया जाता है। इसलिए एक वित्तीय वर्ष में आर्थिक विकास से अभिप्रायः कि उस अवधि के दौरान वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि जनसंख्या वृद्धि की अपेक्षाकृत अधिक होनी चाहिए। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप समाज के सामान्य कल्याण में वृद्धि होती है। इसका अर्थ है कि वस्तुओं तथा सेवाओं के निजी उपभोग में वृद्धि होती है और जन स्वास्थ्य, जन शिक्षण जैसी सेवाओं का विस्तार होता है। इसका यह भी अर्थ है कि लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि होती है। यह ध्यान देना आवश्यक है कि तीव्र आर्थिक विकास के कारण गैर नवीकरण प्राकृतिक संसाधनों (वन, मृदा, जल, कोयला, तेल आदि) का ह्रास होता है और पर्यावरण भी दूषित होता है भावी पीढ़ियों को भयानक आपदा से बचाए रखने के लिए जिसे रोकना होगा।

तीव्र गति से आर्थिक विकास के मद्देनजर सरकार विशेष कदम उठा सकती है। उदाहरण स्वरूप सरकार करों में कमी कर सकती है ताकि लोग अधिक व्यय कर सकें। वह मुद्रा आपूर्ति बढ़ा सकती है और लोगों का व्यय स्तर बढ़ाने के लिए ब्याज दरों में कमी कर सकती है। इसके नए उद्योग लगाने के लिए लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ छूट की घोषणा कर सकती है।

लोकतंत्र मेंलोगों को व्यापक आर्थिक स्वतंत्रता होती है। इसलिए इस व्यवस्था में मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था को बढ़ावा दिया जाता है। दूसरी ओर समाजवाद में उत्पादन के प्रमुख साधनों (भूमि, भवन, खानें, वन, मशीनरी तथा पूंजी) को सामाजिक स्वामित्व और नियंत्रण के अंतर्गत रखने का पक्षधर है जिससे 'निर्देशित अर्थव्यवस्था' की स्थापना होती है। समाजवाद के पक्षधर तर्क देते हैं कि समाजवादी अर्थव्यवस्था समस्त सामाजिक संसाधनों को समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में लगा देती है; इसलिए यह आर्थिक विकास में सहायक है। हलांकि आर्थिक विकास हासिल करने के लिए लोकतंत्र और समाजवाद की सापेक्ष कुशलता बहस का विषय बनी रहती है।

लोकतंत्र उत्पादन के प्रमुख साधनों पर निजी स्वामित्व की अनुमति प्रदान करता है जिससे पूंजीवाद का विकास होता है। पूंजीवाद के अंतर्गत संस्थानों का वितरण वस्तुओं तथा सेवाओं के विभिन्न बाजारों के माध्यम से होता है जहां कई उपभोगता और बिक्रेता अपनी समझ के अनुरूप अपने फायदे के लिए लेने देन करते हैं। यह दावा किया जाता है कि लोकतांत्रिक पद्धति में आर्थिक निर्णय लेना एक बहुत ही विकेन्द्रित प्रक्रिया है। बाजार व्यवस्था बिक्रेताओं के निर्णयों को क्रेताओं के निर्णयों से समन्वय स्थापित करती है तथा उत्पादित की जानी वाली विविध वस्तुओं तथा सेवाओं के मात्रा का निर्धारण किया जाता है और उसे अर्थव्यवस्था के साथ परिवर्तित किया जाता है। इन वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें मांग और आपूर्ति के नियम के तहत निर्धारित की जाती हैं। संक्षेप में, पूंजीवादी व्यवस्था में मुक्त बाजार तथा मुक्त उद्यम को प्रोत्साहन दिया जाता है।

मुक्त उद्यम के समर्थकों का तर्क है कि विकेन्द्रित बाजार– आधारित अर्थव्यवस्था में ग्राहकों की मांग के अनुरूप उत्पादन के साधनों का बंटवारा किया जाता है। इस प्रणाली में व्यक्तिगत स्व–हित को प्रधानता दी जाती है क्योंकि विभिन्न उत्पादक अपने प्रतिद्वंदी को मात देने के लिए उत्पाद की लागत को कम तथा कम से कम कीमत तय करने का प्रयास करते हैं। वे नई वस्तुओं का उत्पादन तथा नई सेवाएं चालू करने का प्रयास करते हैं ताकि ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और पूरा समाज इनसे लाभान्वित हो। अर्थशास्त्र के जनक ब्रिटिश दार्शनिक एडम स्मिथ (1723–90) का कहना है कि यदि सरकार बाजार अर्थव्यवस्था में दखल न दे तो प्रत्येक व्यक्ति अपने पैसे का सही इस्तेमाल करेगा। बाजार में वही वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति होगी जिनसे ज्यादा से ज्यादा जनता की ज्यादा से ज्यादा जरूरतें पूरी होंगी जिसके फलस्वरूप सामान्य जनकल्याण के स्तर में वृद्धि होगी। स्मिथ ने 1776 में प्रतिपादित *इन्क्वेरी इनटू दी नेचर एण्ड काउजिस ऑफ दी वैल्थ ऑफ नेशनस* नामक अपने सिद्धांत में बाजार द्वारा हितों के सामजस्य स्थापित करने के लिए अदृश्य शक्ति की भूमिका के योगदान पर बल दिया है। उसने तर्क दिया कि एक व्यक्ति 'जो सिर्फ अपना लाभ चाहता है' 'वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी अदृश्य शक्ति द्वारा प्रेरित किया जाता है जो कि उसकी अपनी इच्छा नहीं होती है।'

मगर मुक्त उद्यम अर्थव्यवस्था के आलोचक दावे के साथ कहते हैं कि एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत के समय से अब परिस्थितियों में परिवर्तन हो चुका है। वर्तमान समाज में वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति कुछेक शक्तिशाली आपूर्तिकर्ताओं के हाथों तक सीमित है जिन्होंने दुगने लाभ के लिए आपूर्ति के साधनों पर अपना एकाधिकार कर रखा है। अतः अब बाजार ग्राहकों की मांगों को पूरा करने का साधन नहीं रहा है। दूसरी ओर जब उत्पादक अपने उत्पाद की कीमत कम करते हैं उस पर प्राप्त होने वाले मुनाफे को उपभोगताओं तक नहीं पहुंचाते। अपितु वे अपनी बचत के हिस्से को ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए चकाचौंध वाले प्रचार–प्रसार अभियानों में लगा देते हैं। परिस्थितिवश उद्योगपतियों तथा व्यापारियों का मुनाफे में बढ़ौतरी होती है मगर सामाजिक सेवाओं का पर्याप्त विस्तार नहीं होता क्योंकि यह बाजार के नियमों के अनुरूप नहीं है। इसके अलावा उद्योगपति जब लागत कम करने के लिए नई तकनीक को अपनाते हैं तो अपने मजदूरों की दशा के प्रति कम ध्यान देते हैं और उनकी छंटनी करना आरंभ कर देते हैं जिससे बड़े पैमाने पर बेरोजगारी पनपती है। कुल मिलाकर मुक्त बाजार व्यवस्था को अपनाने से न सिर्फ सकल आर्थिक असमानता पैदा होती है अपितु उद्योगपतियों के लाभ कमाने की प्रवृति के कारण सीमित प्राकृतिक संसाधनों का भी ह्रास होता है और प्रदूषण की समस्या उत्पन्न होती है जिससे जन स्वास्थ्य को खतरा पैदा होता है। ऐसे में अर्थव्यस्था के ऊपर सरकारी नियंत्रण की बहुत जरूरत है।

दूसरी ओर समाजवाद 'निर्देशित अर्थव्यस्था' के समर्थक तर्क देते हैं कि इस प्रकार की अर्थव्यस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन की मात्रा का निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता है जोकि विविध उत्पादन इकाईयों को संसाधनों का आवंटन करती है। आपेक्षित उत्पादन मात्रा के अनुसार सरकार द्वारा प्रबंधित संसाधनों का आवंटन अर्थव्यवस्था के कुशलता के लिए उपयोगी होता है। हलांकि 'निर्देशित अर्थव्यवस्था' के आलोचक कहते हैं कि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था अपने संचालन के लिए नौकरशाही का एक बहुत बड़ा ढांचा स्थापित करती है जो इसे पूरी तरह से दूषित कर देता है। शक्तिशाली सरकारी अधिकारी कभी भी उत्पादन–प्रबंधन में अपनी कार्यकुशलता नहीं दर्शाते हैं और न ही वे ग्राहकों के प्रति संवेदनशील होते हैं। उपभोगताओं को आवश्यक वस्तुएं व सेवाएं पर्याप्त मात्रा में मिलनी चाहिए मगर उन्हें बहुत कम ऐसे अवसर मिलते हैं जहां वे अपनी रूचि के अनुसार वस्तुओं की खरीद कर सकें। भले ही सभी के पास रोजगार है परंतु उचित प्रोत्साहन के बिना वे उत्पादन में अपना यथायोग्य योगदान नहीं देते। आखिरकार इस प्रकार की अर्थव्यवस्था भी आवश्यक वस्तुओं कमी से प्रभावित रहती है जैसा कि पूर्व सोवियत संघ 1991 में समाजवाद के पतन से पूर्व इसका साक्षी है।

इन सभी बिन्दुओं पर गौर करने के पश्चात हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि लोकतंत्र में न तो मुक्त बाजार व्यवस्था स्थिर रहती है और समाजवाद कुशल आर्थिक विकास का कोई उचित रास्ता है जिससे निर्देशित अर्थव्यवस्था का उत्थान होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी संस्कषति तथा अपने आर्थिक विकास के स्तर के परिप्रेक्ष्य में विकास का मार्ग चुनता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अवसरवाद तथा अपवादों की भूमि थी। इसे स्वतंत्रता के दीवानों ने बसाया तथा बनाया था तथा यूरोपवासियों को आधुनिक समय में उद्यमशीलता में लगाया था। उसने अमेरिकी क्रांति (1976) तथा लोतंत्र तथा मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के बाद अप्रत्याशित आर्थिक विकास हासिल किया है। ग्रेट ब्रिटेन में भी मुक्त उद्यतम को प्रशस्त किया था। उन्होंने अठाहरवीं तथा उन्नीसवीं सदी के दौरान लोकतांत्रिक तथा मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के अंतर्गत प्रभावशाली आर्थिक विकास किया। मगर 20वीं शताब्दी के अर्द्ध में उन्होंने अपनी अर्थव्यवस्था को संभावित गिरावट से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को अपना लिया। कल्याणकारी राज्य में सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अर्थव्यवस्था पर व्यापक स्तरीय सरकारी नियंत्रण कर लिया जिससे मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था समाप्त हो गई।

पूर्व सोवियत संघ ने अत्यंत पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था विरासत में दे थी और बॉल्शैविक क्रांति (1917) के पश्चात जनता में बहुत उदासी छायी हुई थी। उन्होंने अपने सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए सामाजिक निर्देशित अर्थव्यवस्था को अपनाया। उन्होंने इस व्यवस्था के अंतर्गत लगभग सात दशकों तक भारी आर्थिक विकास किया। मगर धीरे–धीरे यह व्यवस्था अपनी पुरानी कमजोरियों का शिकार होती गई और परिणामस्वरूप पूरी अर्थव्यवस्था में गिरावट आ गई (1991) तथा रूस का कई देशों में विघटन हो गया। पूर्व सोवियत संघ का प्रमुख कारक–रूसी संघ अब लोकतांत्रिक तरीके से शक्ति का पुनः हासिल कर रहा है और अपनी अर्थव्यवस्था को मजबूती प्रदान करने का प्रयास कर रहा है।

चीनी जनवादी गणराज्य ने भी कम्युनिस्ट क्रांति (1949) के बाद हुए आर्थिक पिछड़ेपन से उभरने के लिए समाजवादी निर्देशित अर्थव्यवस्था को अपनाया है। चीन ने पिछले पांच दशकों में इस व्यवस्था के अंतर्गत भारी आर्थिक विकास हासिल किया है। और अपनी अर्थव्यवस्था को मंदी से बचाने के लिए 'बाजार समाजवाद' को अपनाया है।

भारत में 'समाजवादी सामाजिक पद्धति' का विकास स्वंतंत्रता प्राप्ति (1947) के पांच दशकों में लोकतांत्रिक व्यवस्था के साथ हुआ। सरकारी क्षेत्र में अनेक उद्योग स्थापित किए गए। कुछ निजी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। सामाजिक सेवाओं का व्यापक पैमाने पर विस्तार कर दिया गया। मगर सरकारी क्षेत्र में कार्य–कुशलता की कमी, बढते हुए भ्रष्टाचार तथा सरकारी खजाने पर अत्याधिक बोझ के कारण अब हम उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्विकरण की ओर अग्रसर हो रहे हैं जोकि मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था की पक्षधर हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब किसी देश की पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था का पुर्नोद्धार किया जाना हो तो आरम्भ में समाजवादी निर्देशित अर्थव्यवस्था कारगर सिद्ध होती है मगर आगे चलकर मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था अधिक उपयोगी लगती है। निर्देशित अर्थव्यवस्था बहुजन की मूलभूत समस्याओं की पूर्ति करती है मगर इससे सरकार के ऊपर उनकी निर्भरता बढ़ जाती है। कुछ समय बाद जब समाज के योग्य तथा उद्यमी लोग विविध प्रकार के करों को बोझ मानते हैं तो लोगों को कठिन परिश्रम करने और उससे अच्छा लाभ कमाने के लिए उन्हें मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था ही उपयुक्त लगती है। किसी भी सूरत में सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान करना सरकार की जिम्मेवारी होनी चाहिए क्योंकि बाजार कभी भी इस उत्तरदायित्व निभाने के लिए तैयार नहीं होता है।

*****

अध्याय – 11
क्या संरक्षात्मक विभेद से न्याय के सिद्धांत का उल्लंघन होता है?

संरक्षात्मक विभेद का विषय समानता के सिद्धांत से संबंधित है। समानता का सिद्धांत उन्नतशील विचार को उजागर करता है जिसका उद्देश्य सभी व्यक्तियों का बराबर सम्मान करना था सभी को समान अवसर प्रदान कारन है ताकि समाज में फैली असमानता समाप्त हो जाए। जब हम सभी व्यक्तियों समान अधिकारों की मांग करते हैं तो हम विशेष और गैर–विशेष वर्ग के भेद को समाप्त करना चाहते हैं ताकि समाज में सभी अपने गुणों तथा प्रयासों के आधार पर धन, प्रतिष्ठा तथा शक्ति प्राप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में किसी भी व्यक्ति को लिंग, जाति, धर्म, भाषा या रंग आदि के आधार पर समाज में उन्नति के अवसर प्रदान करने से मना नहीं किया जा सकता। क्योंकि इनमें से कोई कारक विभेद के लिए तर्कसंगत नहीं है।

मोटे तौर पर कहा जाए तो समानता के सिद्धांत की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं– (1) यह विभेद की असंगत पष्ठभूमि को समाप्त करना चाहता है मगर किसी विशेष व्यक्ति को उसके तार्किक व विवेकशील गुणों तथा प्रयासों के आधार पर दिए जाने वाले विशेष पारितोषिक का विरोध नहीं करता। (2) साधारणतः यह सिद्धांत समाज के शोषित वर्ग के उत्थान के अवसरों के विकास की वकालत करता है। ऐसे में कहा जा सकता है कि समानता के सिद्धांत का सामाजिक न्याय के सिद्धांत से गहरा संबंध है।

यदि हम सभी को समान अवसर प्रदान करने के लिए परम्परागत विशेषाधिकारों की व्यवस्था को समाप्त करने का निर्णय लेते हैं तो समाज का गरीब तथा कमजोर वर्ग अत्याधिक लाभान्वित होगा। इसके विपरीत यदि यदि 'गुणों आधार पर वितरण' सिद्धांत को अपनाया जाता है तो हम 'जनता के लिए खुली प्रतियोगिता पर आधारित 'मुक्त बाजार समाज' की स्थापना की ओर आगे बढ़ेंगे। जहां आगे बढ़ने के अवसर आसान नहीं, ऐसे में बहुत ही प्रतिस्पर्धावान अपना उद्देश्य प्राप्त कर सकता है परंतु मध्यम दर्जे वालों के लिए कोई स्थान नहीं होगा चाहे वे कुछ जगहों के लिए उपयुक्त ही क्यों न हों। इस तीव्र स्पर्धा के वातावरण में बहुत से लोग अपने निर्वाह–साधन भी नहीं जुटा पाते। इसलिए समानता के पक्षधर तर्क देते हैं कि जहां तक संभव हो तो 'गुणों आधार पर वितरण' के कारण पैदा हुई असमानता को 'आवश्यकतानुसार वितरण' से दूर करना चाहिए। इससे समाज में धन, प्रतिष्ठा तथा शक्ति समान वितरण होगा तथा भाईचारे की भावना का विकास होगा।

यदि समाज का कोई वर्ग सदियों से दबाव तथा शोषण का शिकार रहे हों तो वे खुली प्रतिस्पर्धा में विकसित वर्गों का मुकाबला नहीं कर पाएंगे। अतः समाज के ऐसे वर्गों के लिए विशेष प्रावधान करने होंगे ताकि उनका और विकास हो सके। उदाहरण के लिए भारतीय समाज के कई वर्ग जन्म से ही उच्च शिक्षा, उच्च व्यावसाय अपनाने तथा सामाजिक सम्मान हासिल के अवसरों से वंचित रहे। 19वीं सदी के प्रारम्भ तथा मध्य में एकनई सामाजिक चेतना का संचार हुआ और अनेक समाज सुधारकों तथा संतों ने राज्य व्यवस्था में व्याप्त सामाजिक अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई। समाज के इन वर्गों का उद्धार करना हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के उद्देश्यों में एक प्रमुख उद्देश्य बन गया। भारत की स्वतंत्रता (1947) के पश्चात सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के विकास के लिए विशेष प्रावधान किए जाने आवश्यक समझे गए ताकि वे राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि इन वर्गों को विधानपालिका, सरकारी नौकरियों तथा विशेष शिक्षा–कोर्सों में उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

इसलिए भारतीय संविधान (1950) में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के विकास लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। इन जातीय वर्गों की पहले से पहचान की गई थी और उन्हें सरकारी सूची में सम्मिलित कर प्रकाशित कर दिया गया है। उन्हें विधानपालिकाओं में उचित प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 7.5 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया है। क्योंकि अनुसूचित जातियों के लोग सदियों से अस्पृश्यता का शिकार रहे हैं, इसलिए संविधान में अस्पृश्यता समाप्त करने के लिए विशेष प्रावधान किया गया। अन्य पिछड़ी जातियों का सर्वेक्षण करने में काफी समय लग गया। अंततः 1990 में अन्य पिछड़े

वर्ग के लिए सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत आरक्षण देने का प्रावधान किया गया तथा उन्हें अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की भांति आयुसीमा तथा आवश्यक योग्यताओं में छूट का प्रावधान किया गया। सीटों का यह आरक्षण इस प्रकार (15+7.5+27= 49.5%) पर किया ताकि इसका अनुपात अनारक्षित 50 प्रतिशत सीटों से अधिक न हो।

जब हम सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक रूप से पिछड़े हुए समाज के वर्गों के हितों की रक्षा करने के लिए समुदाय के दुर्लभ तथा मूल्यवान संसाधनों का विभाजन करते हैं तो इसे संरक्षात्मक विभेद के नाम से पुकारा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में महिलाओं और अश्वेतों को सरकारी नौकरियों तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने (विशेषकर मेडिकल तथा कानून की पढ़ाई) में प्राथमिकता दी जाती है। उस देश में इस प्रकार की व्यवस्था को 'सकारात्मक कार्यवाही' कहते हैं। अतः संरक्षात्मक विभेद तथा सकारात्मक कार्यवाही दोनों एक ही तर्क पर आधारित हैं। क्योंकि इन दोनों ही प्रावधानों में शोषित वर्गों को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से सामान्य वर्ग को अवसर की समानता से वंचित रहना पड़ता है। जो वर्ग उच्च मैरिट होने के बावजूद भी अवसर से वंचित रहते हैं उन्हें इस व्यवस्था के खिलाफ शिकायत रही है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब अभी तक शोषित वर्गों के साथ अनुकूल बर्ताव किया जाता रहा है जिसके कारण सामान्य वर्ग के साथ भेदभाव होता है जिसे उत्क्रम विभेद या विपरीत विभेद कहते हैं। उत्क्रम विभेद के विरोधियों का तर्क है कि समानता का अर्थ है भेदभाव समाप्त करना। व्याप्त भेदभाव को विपरीत दिशा में मोड़ देना न्यायसंगत नहीं है। हलांकि संरक्षात्मक विभेद या सकारात्मक कार्यवाही के पक्षधर इसके बचाव में तर्क देते हैं–

1. कुछेक इसे सुधारात्मक न्याय के रूप में न्यायसंगत ठहराते हैं। उनके अनुसार आज शोषित वर्गों की यह दशा पूर्व में उनके साथ हुए अमानवीय व्यावहार के कारण है। अतः पूर्व में हुए अन्याय की भरपाई करने के लिए अब उन्हें उन्नति के अवसरों में प्राथमिकता दी जानी चाहिए।
2. संरक्षात्मक विभेद के पक्षधर यह भी तर्क देते हैं कि यदि पिछड़े वर्गों को उच्च वर्गों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़े तो उच्च पदों पर उनका चयन बहुत कम हो जाएगा। परिस्थिति ऐसी है कि समाज का वर्गीय ढांचे में बदलाव नहीं आ सकता। दूसरी ओर यदि उन्हें विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती हैं तो उच्च पदों पर उनका चयन आसान हो जाता है और धीरे–धीरे पूरे समाज का ढांचा परिवर्तित हो जाएगा। इससे पिछड़े वर्गों के लोगों में विश्वास उत्पन्न होगा और समाज समानता और पूर्णता की ओर आगे बढ़ेगा।
3. कुछ विचारक तर्क देते हैं कि यदि समाज में विकास के अवसर इतने कम हैं तो मैरिट के अलावा शोषित वर्गों की आवश्यकता का भी एक मापदण्ड होना चाहिए। इन वर्गों के जरूरतमंद अभ्यर्थियों को न्यूनतम अपेक्षित शैक्षणिक योग्यता के आधार पर चयनित कर लेना चाहिए। यदि पिछड़े वर्ग का कोई सदस्य विकास का अवसर प्राप्त कर लेता है तो वह पूरे परिवार के शैक्षणिक तथा जीवन स्तर एवं आत्म–सम्मानन को बढ़ा देता है। इससे निश्चय ही सामाजिक परिवर्तन होगा।

उल्लेखनीय है कि भारत में 'उत्क्रम विभेद' का मुद्दा उतने जोरशोर से नहीं उठाया जाता जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका में उठाया जाता है। समकालीन भारतीय समाज शोषित वर्ग के प्रति संवेदनशील है। अभी भी यह माना जा सकता है कि 'सुरक्षित विभेद' का प्रयोग एक पेचीदा मामला है। जहां इतने व्यापक पैमाने पर गरीबी हो तथा विकास के इतने कम अवसर हों, वहां जाति के आधार पर 50 प्रतिशत आरक्षण देने से उन लोगों के लिए बहुत कम अवसर रह जाते हैं तो अन्य जाति में जन्मे हैं चाहे उनका मेरिट स्तर तर्कसंगत हो तथा उनकी आवश्यकता कितनी ही क्यों न हो। यह संभव है कि सामान्य वर्ग व्यक्ति आरक्षित वर्ग के व्यक्ति से अधिक गरीब हो सकता है इसलिए आरक्षण व्यवस्था से गरीब और अमीर का भेद कम होने की बजाय बढ़ सकता है।अतः 1992 में इस स्थिति से बचने के लिए भारत के शीर्ष न्यायालय ने 'क्रीमी लेयर' के अंतर्गत आने वाले अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण के दायरे से बाहर रखने का प्रावधान किया जबकि अनुसूचित जातियां तथा जनजातियों पर यह नियम लागू नहीं है।

दूसरी ओर पिछड़े वर्गों के लिए संरक्षात्मक विभेद के प्रावधान से इस वर्ग में ऐसे चुस्त–दुरूस्त लोग भी होंगे जिन्होंने स्वयं को अप्रत्याशित लाभ पहुंचाने के लिए जरूरतमंदों को पीछे धकेल दिया होगा। इस कुप्रवृति को समाप्त करने के लिए यदाकदा यह भी सुझाया जाता है कि जिन्होंने पिछड़े वर्ग से संबंधित होने का लाभ उठा लिया है उन्हें अपनी भावी पीढ़ियों के इस लाभ को जारी रखे रहने की मांग नहीं करनी चाहिए। इसस उन वर्गों के निम्न श्रेणी के लोग आगे आएंगे और वे भी अपने विकास की भरपूर कोशिश करेंगे। हलांकि यह एक विवादास्पद सुझाव है क्योंकि यदि इसे अमली जामा पहनाया जाता है तो पिछड़ी जातियों व जनजातियों से उपयुक्त अभ्यर्थी नहीं मिलेंगें और बहुत समय तक सीटें खाली रहेंगी, जो अंततः समाप्त हो जाएंगी। दूसरी ओर यदि पिछड़ी जातियों/जनजातियों के कुछ परिवारों को तर्कसंगत ढंग से विकसित बना दिया जाए तो तो उम्मीद की जा सकती है कि पिछड़े वर्ग की जनता के लिए उनका कोमल हृदय बना रहेगा और वे उनके मागदर्शक और प्रेरणा स्त्रोत बने रहेंगें।

यह भी उल्लेखित है कि 'संरक्षित विभेद' का अधिकतर प्रयोग अब राजनीतिक लाभ के लिए किया जा रहा है। पिछड़े वर्गों को उनकी शिक्षा तथा पेशे में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित करने तथा उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करने के स्थान पर उनकी पहचान पिछड़ा वर्ग के रूप में ही रहने दी जाती है ताकि उन्हें 'सहायक राजनेता' तथा 'बोट बैंक' के तौर पर प्रयोग किया जाता रहा। यह दुभार्ग्य है कि भारतीय समाज देश की आजादी के 70वर्षों बाद पहले से भी और अधिक विभाजित हो गया है। यदि सुरक्षित विभेद के प्रावधान को स्वहित के प्रभाव से मुक्त रखा जाता है तो निश्चय ही यह सामाजिक न्याय के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक कारगर हथियार सिद्ध होगा।

*****

अध्याय – 12
क्या सरकार को परिवारिक व्यवस्था में हस्ताक्षेप करना चाहिए?

राज्य को किसी के व्यक्तिगत जीवन या समाजिक क्षेत्र में कहां तक हस्तक्षेप करना चाहिए? यह प्रश्न लम्बे समय से विवाद का विषय रहा है। एक सर्वसत्तावादी व्यवस्था में राज्य नागरिकों के जीवन के हर पहलु पर अपना नियंत्रण रखता है। अतः ऐसी व्यवस्थाओं में राज्य उनके परिवार, धर्म, शिक्षा तथा मनोरंजन आदि क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर दखल देता है। मगर एक मुक्त समाज में राज्य अपने नागरिकों को हर संभव आजादी प्रदान करता है। यानी उनकी स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए राज्य किसी सीमा तक आवश्यकतानुसार उनके निजी जीवन में दखल देता है। जब भी हम व्यक्तिगत जीवन या समाज में राज्य के हस्तक्षेप के औचित्य पर के प्रश्न पर विचार करते हैं तब हमारे मस्तिष्क में हमेशा एक मुक्त समाज का चित्र सामने आता है।

मुक्त समाज में व्यक्तिगत अस्मिता का पूर्ण सम्मान रखा जाता है। यह व्यक्ति को विवेकशील प्राणी मानता है और अपने भले के लिए उसके अधिकार को मान्यता प्रदान करता है। राज्य और व्यक्ति के बीच परिवार, समुदाय, स्कूल, धार्मिक संगठन तथा कई अन्य स्वयंसेवी संस्थाएं हैं जो उनका आवश्यक पोषण, संरक्षण तथा मार्गदर्शन करते हैं और अनुशासन का अनुपालन करना सिखाते हैं। सामान्यतः व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता है वहीं से उसे प्रारम्भिक सहयोग मिलता है। मूलतः किसी व्यक्ति का धर्म, सामाजिक–आर्थिक स्तर तथा उसकी लालसाएं उसकी लालसाएं उसके परिवार द्वारा निर्धारित होती हैं। जब वह बड़ा होता है वह न सिर्फ नया परिवार बसाता है अपितु जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण फैसले स्वतंत्र रूप से लेता है। वह अनेक परम्पराओं को त्यागता है औरअपना रास्ता स्वयं चुनता है। कुछ मामले ऐसे भी होते हैं कि समाज के बहुत से सदस्य जीवन भर अपने परिवार की परम्पराओं से बंधे रहते हैं।

क्या राज्य को पारिवारिक संस्थाओं में हस्तक्षेप करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें व्यक्ति, परिवार तथा राज्य की सापेक्ष अवस्था का पता लगाना होगा। परिवार किसी व्यकित का निजी दायरा है। आमतौर पर राज्य को व्यक्ति के निजी क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मगर कुछेक मामलों में परिवार व्यक्ति के लिए असामान्य परिस्थितियां पैदा कर देता है। ऐसे में राज्य को उचित स्थिति बनाए रखने के लिएनियंत्रण रखना पड़ता है। इसलिए हमें ऐसी परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिए जिनके रहते राज्य पारिवारिक मामलों में हस्तक्षेप करता है और ऐसी स्थिति से हमें बचना चाहिए। अगर ऐसा कोई मामला सामने आता भी है तो राज्य को उसे बड़े न्यायोचित ढंग से सुलझाना चाहिए। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार की धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप पूजा–पाठ करता है तो राज्य का ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई औचित्य नहीं बनता। मगर यदि कोई धार्मिक परम्पराओं के नाम पर सामाजिक व्यवस्था में बाधा उत्पन्न करता है या दूसरे धर्मो के प्रति नफरत फैलाता है तो राज्य का हस्तक्षेप जरूरी बन जाता है।

राज्य प्रत्येक नागरिक को अपनी मनपसंद की शादी करने की स्वतंत्रता देता है। वैवाहिक बंधनों में बंधने के लिए राज्य लड़के–लड़कियों की व्यस्कता संबंधी कानून बना सकता है मगर वह यह फरमान जारी नहीं कर सकता कि जो व्यक्ति विवाह करना चाहता है उसे सरकार से अनुमति लेनी होगी। साथ ही राज्य यह निर्देश भी जारी नहीं कर सकता कि किसे किससे शादी–विवाह करने चाहिए।

यदि परिवार या धार्मिक संगठन जैसी कोई संस्था किसी व्यस्क नागरिक को अपनी मनपंसद की शादी करने से रोकते हैं तो ऐसी संस्थाओं के हस्तक्षेप से बचाने के लिए राज्य ऐसे व्यक्ति को आवश्यक सुरक्षा प्रदान करेगा। जब कोई व्यक्ति अपने धार्मिक रीति–रिवाजों के अनुसार शादी करता है तो राज्य को ऐसी शादी की मान्यता प्रदान करनी होती है। जो व्यक्ति धार्मिक रीति–रिवाजों के अनुसार शादी नहीं करना चाहते, राज्य उन्हें न्यायालय के माध्यम से शादी करने की अनुमति देता है। जो नागरिक पुरानी पद्धतियों के अनुरूप शादी करता हैं तो वे न्यायालय में अपनी शादी का पंजीकरण करवा सकते हैं। यदि उचित समझे तो राज्य भी सभी प्रकार की शादियों के पंजीकरण की मांग कर सकता है।

यदि पति या पत्नी अथवा दोनों शादी के संबंध अलग होना चाहते हों और उनके धर्म (जैसा कि हिन्दू और ईसाई धर्मों में होता है) में तलाक की मनाही हो तो वे कानूनी प्रावधानों के मुताबिक न्यायालय या राज्य द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के माध्यम से तलाक ले सकते हैं। यदि उनके बच्चा या बच्चे हों तो उनकी देखभाल की जिम्मेदारी न्यायालय द्वारा निर्धारित की जाती है। यदि तलाक के मामले में किसी पक्ष को मुआवजा दिया जाना हो तो न्यायालय का फैसला अथवा मुआवजे की प्रकृति तथा राशि की मंजूरी आवश्यक मानी जाती है।

शादी के बाद बच्चे पैदा करने का निर्णय शादी–शुदा जोड़े के अपने अधिकार क्षेत्र में आता है। ऐसे मामलों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मगर देश के भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए राज्य अपने नागरिकों को अधिक या कम बच्चे पैदा करने की सलाह दे सकता हे। इसके लिए वह लोगों को जरूरी चिकित्सा सुविधाएं भी मुहैया करवा सकता है। जनसंख्या नीति के बारे में प्रोत्साहित करने के लिए वह लोगों को सम्मानित कर सकता है या फिर ऐसे विशेषाधिकारों पर प्रतिबंध लगा सकता है।

परिवार नियोजन की तरह जन्म दर को नियंत्रित करने के लिए अनेक वैध कार्यक्रम हैं मगर महिलाओं के गर्भ में पल रहे भ्रुण की जांच करना माता–पिता की इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि इससे न्याय और मानवता की आत्मा को आघात पहुंचता है और जनसंख्या का लैंगिक अनुपात भी डगमगा जाता है। इसलिए राज्य द्वारा ऐसे कृत्यों पर प्रतिबंध लगाया जाता है। इसके साथ ही राज्य को यह ध्यान रखना होता है कि मां–बाप अपने बच्चों के साथ दुर्व्यवहार न करें और परिवार का कोई सदस्य घरेलु हिंसा का शिकार न हो। राज्य ऐसे माता–पिता को दण्ड दे सकता है जो अपने बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं या उनका शोषण करते हैं। साथ ही राज्य सभी बच्चों को आधारभूत शिक्षा दिलवाने तथा बच्चों को स्कूल भेजने के लिए उनके माता–पिता को आदेश दे सकता है।

परिवार के कई मामले उस परिवार की धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप सुलझाए जाते हैं। जब तक इन परम्पराओं से किसी व्यक्ति को कोई नुकसान नहीं पहुंचता या कोई विवाद पैदा नहीं होता राज्य को तब तक ऐसे मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मगर स्थिति इसके विपरीत हो जाए तो राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक बन जाता है। उदाहरण के लिए 19वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में बंगाल के हिन्दू परिवारों में सती प्रथा एक आम बात थी। इस प्रथा के अनुसार विधवा (उम्रदराज पति की बाल विधवा ही क्यों न हो) को अपने पति की चिता के साथ जल जाना पड़ता था। इस प्रथा को इस महान धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। बंगाल के महान समाज सुधारक राजा राम मोहन राय (1772–1833) ने इस अमानवीय प्रथा के विरूद्ध जोरदार आंदोलन किया। आखिकार सन् 1924 में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने सती प्रथा पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया।

इसके एक अलावा अन्य अमानमीय प्रक्रिया दहेज प्रथा भी बहुतेरे हिन्दुओं प्रचलित है। क्योंकि पहले मां–बाप की सम्पत्ति पर बेटी का अधिकार नहीं होता था तथा विवाह के अवसर पर वे अपनी बेटी को स्वैच्छा से दहेज के रूप में उपहार देते थे। मगर धीरे–धीरे कुछ मामलों में तथाकथित दुल्हों के मां–बाप द्वारा दहेज (नकद उपहार को मिलाकर) की मांग की जाने लगी। यहां तक कि यह मांग शादी हो जाने के बाद भी की जाने लगी। दहेज के नाम पर कई बहुओं का शोषण तथा उनकी प्रताड़ना की जाने लगी। कुछ विशेष मामलों में तो बहुओं को जलाने की खबरें भी सामने आई हैं। जाहिर सी बात है ऐसी स्थिति में राज्य तटस्थ नहीं रह सकता। इसलिए भारत सरकार ने दहेज विरोधी कानून, 1961 के माध्यम से इस स्थिति से निपटने का प्रयास किया है। इस समस्या का सीधा संबंध पैतृक सम्पत्ति में बेटी के हिस्से से है, जिसका कानून में भी प्रावधान है। यदि किसी महिला के साथ किसी प्रकार का अन्याय हो रहा हो तो राज्य निश्चित तौर पर हस्तक्षेप कर सकता है। यदि किसी पक्ष के साथ अन्याय हो रहा हो तो राज्य पारिवारिक सम्पत्ति से संबंधित विवाद के मामले में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

भारत सरकार ने अब 'माता–पिता तथा वरिष्ठ नागरिकों की देखभाल एवं कल्याण अधिनियम, 2007' पारित किया है। इसमें यह प्रावधान किया गया है कि युवा लोगों को अपने असहाय और वृद्ध माता–पिता की देखभाल के लिए मजबूर किया जाए। यह एक विवादित मुद्दा बन गया है क्योंकि यह आरोप लगाया जा रहा है कि सरकार बुजुर्गों से जुड़ी सामाजिक सुरक्षा की जिम्मेवारियों से अपना पल्ला झाड़ रही है और उनके बच्चों पर इसका बोझ डाल रही है जिससे परिवारों में तनाव पैदा हो रहे हैं।

कुल मिलाकर पारिवारिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप संबंधी कोई सामान्य नियम नहीं बनाए जा सकते। इस समस्या से निपटने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के समाधानों की खोज करनी होगी।

प्रश्न– किस प्रकार की दशाओं में पारिवारिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराया जा सकता है? उचित उदाहरण देकर व्याख्या कीजिए।

*****

BA Political Science Syllabus (Regular)

BA-1st Year (Annual System)

Core Course – Discipline Specific Course- DSC- 1A

Code: DSC-1A-POLS 101

Introduction to Political Theory

Course Code	DSC-1A-POLS 101	
Credits -6	L = Lecture	T= Tutorial
	L = 5	T = 1
Course Type	Core Course	

Term End Examination System

Maximum Marks	Minimum Pass Marks	Total Maximum aggregate Marks Annual Exam+ CCA/IA	Minimum Aggregate Pass Marks in Percentage Annual Exam+ CCA/1A	Time Allowed
70	25	100	40 %	3.00 Hrs.

Continuous Comprehensive Assessment CCA/1A Pattern:

Attendance	Class Test	House Test	Assignment/ Seminar/Class Test/Tutorial /Quiz etc.	Total Maximum Marks CCA/IA	Minimum Pass Marks	Total Maximum aggregate marks	Minimum aggregate pass Marks in % annual examination + CCA/IA
5	5	10	10	30	11	100	40 %

Course Content :

UNIT	TOPIC
I	What is politics and what is Political Theory? What is its relevance?
II	State, Civil Society, Liberty, Equality, Justice, Rights.
III	Debates : (a) Democracy and Economic Growth, (b) Liberal and Socialist Perspectives.
IV	Protective Discrimination and Principles of Fairness. State intervention and the Institution of Family .

Suggested Readings:

1. M.P. Jain (1985) **Political Theory, Liberal and Marxian,** Authors Guild Publications, Delhi.
2. S.P. Verma (1992) **Modern Political Theory**. Vikas Publishing House, Pvt. Lid., New Delhi,
3. R.C, Vermani (1997) **An Introduction to Political Theory,** Gitanjali Publishing House, New Delhi.

4. Rajeev Bhargava and Ashok Acharya (eds) (2017) **Political Theory: An Introduction,** Pearson, New Delhi.
5. C. McKinnon (ed.) (2008) **Issues in Political Theory** Oxford University Press, New York.
6. A. Swift (2001) **Political Philosophy: A Beginners Guide for Students and Politicians,** Cambridge, Polity Press.
7. R. Dahl, I. Shapiro and A.J. Cheibub (eds.) (2003) **The Democracy Source Book,** Massa Chusetts: MIT Press, Cambridge.
8. O.P. Gauba (2014) **An Introduction to Political Theory,** Mac Millan Publishers, Delhi.
9. Andrew Heywood (2015) **Political Theory: An Introduction,** Palgrave Macmillan, London.
10. Andrew Shorten (2016) **Contemporary Political Theory,** Palgrave Macmillan, London,
11. David Held (ed.) (1991) **Political Theory Today,** Stanford University Press.

*****

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	अध्याय	पृष्ठ संख्या
अध्याय – 1	राजनीति विज्ञान का अर्थ, क्षेत्र एवं महत्त्व	1
अध्याय – 2	राजनीतिक सिद्धान्त क्या है; इसका अध्ययन क्यों करें?	7
अध्याय – 3	स्वतंत्रता	20
अध्याय – 4	समानता	28
अध्याय – 5	न्याय	46
अध्याय – 6	अधिकार	54
अध्याय – 7	राज्य और नागरिक समाज	64
अध्याय – 8	नागरिक समाज पर समकालीन बहस	76
अध्याय – 9	राजनीतिक सिद्धांत का समाजवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण	83
अध्याय – 10	क्या लोकतंत्र आर्थिक विकास के साथ सुसंगत है?	92
अध्याय – 11	क्या संरक्षात्मक विभेद से न्याय के सिद्धांत का उल्लंघन होता है?	95
अध्याय – 12	क्या सरकार को परिवारिक व्यवस्था में हस्ताक्षेपकरना चाहिए?	98